प्रकाशक
लाला [illegible]राम जैन, मैनेजिंग
प्रोप्राइटर, मेहरचंद लछमनदास,
संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता, गली
नम्बर, कूचा चेलान, फैज बाजार,
दरियागंज, दिल्ली।

न्यासों को हम ऐतिहासिक उपन्यासों के समीप पाते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के 'सोना' और 'सुगन्धि', 'लालकुँवर', 'रजिया बेगम' तथा 'गुप्तगोदना', व्रजनन्दनसहाय का 'लाल चीन', दुर्गाप्रसाद खत्री का 'अनङ्गपाल', मिश्रबन्धु का 'वीरमणि', गोविन्दवल्लभ पंत का 'सूर्यास्त' ऐसे ही उपन्यास हैं। इनमें से वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी के समीप आने वाले केवल इने-गिने उपन्यास ही हैं।

चरित्र-प्रधान उपन्यास:—द्विवेदी-युग के चरित्र-प्रधान उपन्यासों में हमें सर्वप्रथम रूप उपदेश-उपन्यासों का दिखाई देता है। तत्कालीन कुरीतियों पर प्रकाश डाल कर जनता को सही रास्ते पर लाना ही इनका लक्ष्य था। ध्यान में रखने की बात यह है कि उद्देश्य-प्रधान होने के कारण इन उपन्यासों में साहित्यिकता का अभाव है। ये उपन्यास अत्यन्त ही साधारण कोटि के हैं, जिनमें वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण की केवल सूक्ष्म झाँकी देखने को मिलती है।

द्वितीय रूप घरेलू उपन्यासों का है, जिनमें कथा-वस्तु का ध्यान अपेक्षाकृत अधिक रक्खा जाता है। शेष तत्वों की सर्वथा अवहेलना कर दी जाती है। इसीलिए इस प्रकार के उपन्यासों में प्रभावशाली चरित्रों का चित्रण नहीं हो सका है। पात्र साधारण हैं, वे हमारे साथ-साथ नहीं चलते। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि इनमें गार्हस्थ्य जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है और उसमें प्रधानतः पारस्परिक झगड़ों का अधिक चित्रण किया गया है। गोपालराम गहमरी के 'डबल बीबी', 'देवरानी-जेठानी', 'दो बहन', 'तीन पतोहू', 'अर्थ का अनर्थ' तथा 'प्रेमभूल', किशोरीलाल गोस्वामी का 'पुनर्जन्म' ऐसे ही उपन्यास हैं। इस प्रकार के न जाने कितने उपन्यास लिखे गये।

... उन उपन्यासों का है, जिनमें हमें चरित्र-चित्रण

निवेदन

मुझे इस पुस्तक के विषय में अधिक कुछ नहीं कहना है, केवल इतना ही कि इसमें विद्यार्थियों के हित को दृष्टि में रखकर हिन्दी-गद्य जैसे कठिन विषय को सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। जो विद्यार्थी हिंदी-गद्य के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डालना चाहते हैं, उनके लिए यह पुस्तक विशेष उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसा मेरा विश्वास है। इसीलिए इसका नाम 'हिंदी-गद्य की रूप-रेखा' रख दिया गया है। आज की अधिकांश पाठ्य-पुस्तकों में मैं ने प्रधानतः जिन-जिन लेखकों की रचनाओं को देखा है, उनके विषय में दो-चार पंक्तियाँ ही अधिक लिखकर शेष को चलता कर दिया है अन्यथा पुस्तक का कलेवर बढ़ जाता और इस प्रकार विद्यार्थियों की कठिनाई में अपेक्षाकृत वृद्धि हो जाती। फिर हिन्दी-गद्य के विकास को पूर्णरूप से हृदयंगम करने के लिए जो कठिनाई उपस्थित हुई, वह यह कि साहित्यिक उन्नति और क्रमिक विकास की दृष्टि से उसका विभाजन किस रूप में किया जाय, ताकि हिन्दी-विद्यार्थी उसे विशेष रुचि के साथ अध्ययन कर सकें। वैसे तो इसके बीच सीधी-सीधी रेखाएँ खींचना एक दुस्तर कार्य है, लेकिन फिर भी सुविधा के लिए गद्य को पृथक्-पृथक् अध्यायों में विभाजित कर दिया गया है और उनके अन्तर्गत कालविशेष की विभिन्न प्रवृत्तियों का निर्देश भी कर दिया है। हिन्दी-गद्य यथार्थ में सन् १५७२ ई० में गंग कवि की रचना 'चंद छंद बरनन की महिमा' से आरम्भ होता है। इसके पूर्व प्रस्तावना के रूप में खड़ी बोली के प्रयोग और अस्तित्व पर ही विचार किया गया है, देशी भाषाओं के गद्य पर नहीं। अस्तु, हिंदी-गद्य का विशेष अध्ययन करनेवाले पाठक 'हिन्दी-गद्य का विकास' नामक एक अन्य बृहत् ग्रंथ देखें, जिसमें प्राचीनतम काल से लेकर आज तक के गद्य की विस्तृत आलोचना की गई है।

अन्य प्रारम्भिक काल के हैं। 'कुछ विचार' में उनकी विकसित निबंध-कला के दर्शन होते हैं। इसमें साहित्य, साहित्यकार, कला, उपन्यास, कहानी, तथा यथार्थ और आदर्श जैसे गम्भीर विषयों पर अपने निजी विचार प्रकट किये गये हैं। निबन्ध विचारात्मक हैं, लेकिन जैसा कि हम जानते हैं, प्रेमचन्द उर्दू साहित्य से हिन्दी में आये थे, इसलिए उनके निबन्धों की भाषा व्यावहारिक ही है। आरम्भ में उनकी भाषा में शिथिलता, व्याकरण सम्बन्धी सामान्य भूलें, विरामादिक चिह्नों का अनुपयुक्त प्रयोग तथा प्रांतीयता का भद्दा स्वरूप अवश्य दृष्टिगत होता है, लेकिन आगे की रचनाओं में यह बात नहीं है। उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सरलता है और इस दृष्टि से हम कह सकते हैं, प्रसाद की गद्य-शैली के अभाव की पूर्ति प्रेमचन्द के द्वारा हुई। भावों के अनुसार प्रेमचन्द की भाषा अपना रूप बदलती हुई चलती है। एक उर्दू लेखक की भाषा इतने अल्प समय में इतनी सुधर सकती है, इसे देखकर हमें आश्चर्य होने लगता है। मुहावरों और लोकोक्तियों ने उनकी भाषा में चार चाँद लगा दिए हैं। विचारों की स्पष्टता के लिए उन्होंने जैसे, तैसे, मानो आदि शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी समस्त रचनाएँ खिचड़ी भाषा में हैं, जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहा जा सकता है। वाक्य छोटे-छोटे हैं। धाराप्रवाह का सुन्दर निर्वाह किया गया है। 'उपन्यास' नामक निबन्ध का यह उदाहरण देखिए—

'उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह क़ायदा है कि चीज़ जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं, उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की राय नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी के विद्वानों की जिन-जिन पुस्तकों से मुझे सहायता मिली है, उनके प्रति मैं नम्रतापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। मुझे भय है कि मेरे सीमित ज्ञान और अल्प बुद्धि के कारण बहुत-सी त्रुटियाँ और भूलें पुस्तक में रह गई होंगी—कुछ साहित्यकारों के विवरण छूट गये होंगे, इसके लिए मैं उन सबसे कर-बद्ध क्षमा चाहता हूँ। इस सम्बन्ध में जब-जब मुझे अपनी भूलें ज्ञात होती रहेंगी, तब-तब अविलम्ब उनके निराकरण का प्रयत्न करता रहूँगा। मैं मेसर्स मेहरचन्द लक्ष्मणदास की फ़र्म के मैनेजिंग प्रोप्राइटर भाई श्री खज़ांचीराम जी का विशेष आभारी हूँ, जिनके अथक परिश्रम और लगन से यह पुस्तक अल्प समय में ही प्रकाशित हो गई है। उनके विषय में अधिक क्या कहूँ—हिन्दी के प्रचार और प्रसार में आपने जो सत्कार्य किया है, वह असाधारण और अपूर्व है। भारत-विभाजन के समय लाहौर में सब कुछ खो देने पर आज अपनी भग्नावस्था में भी दिल्ली से आप हिंदी-प्रकाशन में सतत प्रयत्नशील हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में उनके साहस को देखकर मैं दंग रह गया हूँ।

अन्त में, यदि विद्यार्थी-संसार इस पुस्तक से लाभ उठा सका, तो लेखक अपना श्रम सफल समझेगा।

'जिज्ञासु'

समर्पण

श्रद्धेय डा० श्री सोमनाथजी गुप्त को

जिनकी संरक्षा में मैंने हिन्दी-गद्य का अध्ययन
किया और जिनकी प्रेरणा तथा प्रोत्साहन ने
मुझे प्रस्तुत 'हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा'
लिखने में प्रवृत्त किया।

—'जिज्ञासु'

विषय-सूची

: १ :

विषय-प्रवेश : खड़ी बोली का प्रयोग और उसका अस्तित्व

(सन् ६४५-१५७० ई०)

आधुनिक युग में जिस खड़ी बोली के गद्य का इतना व्यापक प्रसार दिखाई देता है, उसका इतिहास बहुत प्राचीन है। हिन्दी-भाषा का प्राचीन लिखित-साहित्य विश्व की समस्त भाषाओं की तरह पद्य-रचना से ही आरम्भ होता है और बहुत समय तक हमारे यहाँ इसी का प्राधान्य रहता है। लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि आधुनिक-युग की खड़ी बोली का अस्तित्व उस प्राचीन काल में था ही नहीं अथवा इसका प्रयोग साहित्य में होता ही न था। खड़ी बोली व्रजभाषा के ही समान एक अत्यंत प्राचीन प्रादेशिक बोली है, यहाँ यह बात हमें पूर्णरूप से समझ लेनी चाहिए। भारत के ऐतिहासिक कारणों से ही खड़ी बोली को प्रधानता मिली। मुसलमानी दरबारों से सम्बन्ध होने तथा कविता के क्षेत्र में व्रजभाषा का एकाधिपत्य होने के कारण हिंदी साहित्यिकों में उसका अधिक प्रचार न हो सका था, फिर भी साहित्य में इसका प्रयोग बहुत पहले से हुआ। गंग कवि (१५५६-१५७२ ई०) का 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' खड़ी बोली का सर्वप्रथम ग्रंथ माना जाता है, इसलिए प्रस्तुत अध्याय में हम सन् ६४५-१५७० ई० तक के साहित्य में खड़ी बोली के प्रयोग और उसके अस्तित्व के विषय में विचार करेंगे और यह बताने की चेष्टा करेंगे कि इसका प्रयोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्राचीन काल से होता चला आ रहा है।

प्राचीन काल में राजस्थानी-गद्य के समान हिंदी-गद्य का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। इस काल के शिलालेखों से इस बात का पता अवश्य चलता है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न बोलियाँ थीं। सच बात तो यह है कि इस काल के साहित्य की अभी तक पर्याप्त खोज नहीं हो पाई है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने इस समय के पट्टे-परवाने प्रकाशित अवश्य कराये हैं जो हिंदी-गद्य के सर्वप्रथम उदाहरण माने जा सकते हैं। लेकिन विद्वानों को इन पट्टे-परवानों की प्रामाणिकता में पूरा-पूरा सन्देह है। कुछ भी हो इतना तो हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि खड़ी बोली का अस्तित्व हमें इस समय के प्राप्य ग्रंथों द्वारा मिल ही जाता है। यह दूसरी बात है कि प्रारम्भिक अवस्था में इसे कोई व्यापक स्थान नहीं मिल सका।

प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि (सन् १०६३-११४२ ई०) ने एक बड़ा भारी व्याकरण-ग्रंथ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' के नाम से लिखा है, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का रूप पाया जाता है। इसमें अपभ्रंश के जो उदाहरण दिये गये हैं, उन्हें देखने से विदित होता है कि सभी उदाहरण किसी एक अपभ्रंश के नहीं हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों की प्राकृतें थीं, उसी प्रकार उनकी पृथक्-पृथक् अपभ्रंश बोलियाँ भी थीं। इनसे हमें प्राचीनतम खड़ी बोली के स्वरूपों का परिचय प्राप्त होता है। खड़ी बोली की एक प्रमुख विशेषता उसकी आकारांत प्रवृत्ति है, जो उसे व्रजभाषा से पृथक् करती है। हेमचन्द्र के व्याकरण में यह आकारांत प्रवृत्ति प्रचुर-मात्रा में पाई जाती है। उदाहरण के लिए देखिए:—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसि अहु जइ भग्गा घरु एंतु।

इस पद्य में 'भल्ला', 'हुआ', 'मारिया' आदि शब्दों से खड़ी

बोली के प्राचीन रूप की झलक मिलती है। हेमचन्द्र ने कुछ उदाहरण अपने पूर्ववर्ती कवियों के भी दिये हैं। इससे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि खड़ी बोली का अस्तित्व इससे भी पूर्व पाया जाता था।

हेमचन्द्र के पश्चात् हिन्दी-भाषा का सर्वप्रथम ग्रन्थ 'बीसलदेव रासो' है, जो सन् ११५५ ई० में कवि नरपति नाल्ह द्वारा लिखा गया था। हेमचन्द्र सूरि की भाँति इसमें भी हमें खड़ी बोली की आकारांत प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यथा:—

१. मोती का आपा किया।

२. चित्त फाट्या मन उचट्या।

'बीसलदेवरासो' में व्रजभाषा के रूपों के साथ ही साथ 'भराया', 'पहूँचा', 'आन्या' जैसे शब्दों के रूप मिलते हैं, जिससे इस बात का परिचय मिलता है कि कोई अपभ्रंश खड़ी बोली के रूप में अवश्य विकसित होना चाहती थी।

तेरहवीं शताब्दी में आकर अमीर खुसरो की रचनाओं में भाषा का एक ऐसा रूप देखने को मिलता है, जो खड़ी बोली से बिल्कुल मिलता-जुलता है। खुसरो के पूर्व शारंगधर ने भी 'सहसा रे कंत! मेरे कहे' लिखकर खड़ी बोली के अस्तित्व का आभास अवश्य दिया, लेकिन भाषा का जैसा पुष्ट और सुन्दर रूप खुसरो की रचनाओं में देखने को मिलता है, वैसा शारंगधर में नहीं। खुसरो की इन पहेलियों की भाषा पर विचार करने के उपरान्त यह बात हमें स्पष्ट रूप से मालूम हो सकती है:—

'एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे॥'

खड़ी बोली का कितना निखरा हुआ रूप है! इससे सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि खड़ी बोली के कुछ गीत, कुछ पद्य अथवा यों कहिये कि कुछ तुकबंदियाँ खुसरो

के बहुत पहले से चली आ रही थीं। 'भरा', 'धरा' आदि शब्दों से खड़ी बोली का अस्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। इस प्रकार खुसरो ने हिंदी-साहित्य में प्रथम बार खड़ी बोली का आदि रूप स्थिर किया और भाषा को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। अतः स्पष्ट है कि इस काल की बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली अवश्य रही होगी, अन्यथा इन पद्य-रचनाओं में खड़ी बोली के ये शब्द देखने को नहीं मिल सकते थे।

खड़ी बोली की यह सूक्ष्म धारा प्राचीन काल में ही प्रवाहित होती रही सो भी बात नहीं है। उसका क्रम पूर्व-माध्यमिक काल में भी बराबर देखने को मिलता है। जिन मुसलमान कवियों ने व्रज और अवधी में अपनी रचनाएँ लिखीं, वे भी खड़ी बोली के शब्दों की अवहेलना नहीं कर सके। ध्यान में रखना चाहिये कि इन मुसलमान कवियों ने सर्वप्रथम भारत की बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली को ही अपनाया था। यहाँ रहने के लिए ऐसा करना उनके लिए उपयुक्त भी था। खुसरो के बाद खड़ी बोली का रूप संत कवियों में देखा जा सकता है।

संत कवियों में कबीरदास जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी साखियों और पदों की भाषा आधुनिक खड़ी बोली के बिल्कुल समीप जा पहुँचती है। कबीर का उद्देश्य एक-मात्र जनता को सन्देश देना था। अतः उन्होंने जन-साधारण की भाषा को ही अंगीकार किया। यह उनके लिए उचित भी था। वैसे तो उनकी रचनाओं में कई भाषाओं की खिचड़ी दृष्टिगोचर होती है, लेकिन फिर भी खड़ी बोली के शब्दों का आग्रह बराबर देखा जा सकता है। जैसे—

'उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकाश।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥'

'उठा', 'उड़ा', 'से', 'मिला', आदि शब्दों से खड़ी बोली का

आभास मिलता है। अतः इस काल में भले ही खड़ी बोली का प्राधान्य न रहा हो, लेकिन यह बात निर्विवाद सत्य है कि साहित्य की भाषा के अतिरिक्त सामान्य बोल-चाल की एक सर्वसम्मत भाषा अनन्त काल से अवश्य चली आ रही थी। इस समय की समस्त पद्य-रचनाओं पर उसी की प्रतिच्छाया थी।

खड़ी बोली की यह स्निग्ध काव्य-धारा प्रवाहित होती रही। आगे चलकर रहीम, सीतल, भूषण, सूदन, तोष, ग्वाल, रघुनाथ, घासीराम, कुलपति मिश्र आदि कवियों की रचनाओं में खड़ी बोली का यही सुन्दर रूप पाया जाता है। सीतल कवि (सन् १७७३ ई०) ने 'गुलजार चमन' में आदि से लगाकर अन्त तक खड़ी बोली का प्रयोग किया है। भूषण (सन् १६६४-१७१६ ई०) की 'शिवाबावनी' में खड़ी बोली का यही रूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है:—

(१) अब कहाँ पानी मुकतों में पाती हैं।

(२) खुदा की कसम खाई है।

(३) अफजल खान को जिन्होंने मैदान मारा।

लेकिन गंग कवि (सन् १५५६-१५७२ ई०) के 'चंद-छंद बरनन की महिमा' नामक ग्रन्थ से सर्वप्रथम खड़ी-बोली-गद्य का सूत्रपात होने लगता है, इसलिए इन उपरोक्त कवियों की रचनाओं का गद्य की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रह जाता। फिर भी खड़ी बोली के शब्दों की प्रवृत्ति के लिए इन उदाहरणों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खड़ी बोली के गद्य की स्निग्ध काव्य-धारा खुसरो की पहेलियों और कहावतों से मनोरंजन करती हुई अकबर के समय तक उत्तरोत्तर बहती आई। अकबर के दरबारी गंग-कवि ने उसे हिंदी-साहित्य में सर्वप्रथम पद्य से पृथक् कर गद्य का रूप दिया।

: २ :

माध्यमिक काल : हिन्दी खड़ी बोली का गद्य

(सन् १५७०—१८०० ई०)

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है हिन्दी-गद्य का श्रीगणेश गंग कवि की 'चंद-छंद वरनन की महिमा' नामक गद्य-पुस्तक से होता है। इसका रचना-काल सन् १५७० ई० है। यह पुस्तक ब्रज-मिश्रित खड़ी बोली में लिखी गई है। भाषा अपरिमार्जित और अपरिष्कृत है, लेकिन इतिहास की दृष्टि से इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी भाषा का एक उदाहरण देखिए:—

'सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहि जी श्री दलपति जी अकबर साह जी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।'

इस काल की दूसरी खड़ी बोली के गद्य की पुस्तक जहाँगीर के शासनकाल में 'गोरा-बादल की बात' बतलाई जाती है। लेकिन इस पुस्तक के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। खोज से पता चला है कि जटमल की यह पुस्तक पहले पद्य में थी, आगे चलकर सन् १८२३ के आस-पास हिन्दी-गद्य में उसका अनुवाद हुआ था। यह गद्य में थी अथवा किसी पद्य का अनुवाद-मात्र था, इसकी तह में न जाकर हमें इसकी भाषा पर विचार कर लेना चाहिए। इसमें शब्दों के शुद्ध रूप देखने को मिलते हैं, जैसे 'नमस्कार', 'सुखी', 'आनन्द' आदि। देखिए:—

(१) 'गुरु व सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।'

(२) 'उस गाँव के लोग भी बहोत सुखी हैं। घर-घर में आनन्द होता है।'

यदि 'गोरा-बादल की बात' को हम गद्य की कोटि में नहीं मानें, तो पूर्व-माध्यमिक काल में हमें केवल गंग कवि की गद्य-पुस्तक से ही सन्तोष कर लेना पड़ता है। इस प्रकार इस काल में तो खड़ी बोली के गद्य का केवल बीजारोपण हो सका और कुछ भी नहीं। यह भी हमारे लिए क्या कम हर्ष की बात है?

उत्तर-माध्यमिक काल में अलबत्ता खड़ी-बोली-गद्य की कुछ पुस्तकें अवश्य दिखाई देती हैं। सन् १७४१ ई० में रामप्रसाद 'निरंजनी' ने 'भाषा योग वासिष्ठ' नामक गद्य-ग्रन्थ की रचना की। इसकी भाषा बड़ी ही साफ़-सुथरी है। इससे पता चलता है कि इस काल में आकर परिष्कृत रचनाएँ होने लग गई थीं। 'योगवासिष्ठ' की शृङ्खलाबद्ध, साधु और व्यवस्थित भाषा का यह उदाहरण देखिए:—

'हे राम जी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता, क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़ कर जब तुम स्थित होगे, तब तुम कर्ता हुए भी निर्लेप रहोगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित, रहोगे। जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो वैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगत-ज्वर होगे और आत्म-पद को पाकर फिर जन्म-मरण के बन्धन में न आवोगे।'

इसके पश्चात् सन् १७६१ ई० में पण्डित दौलतराम ने हरिषेणाचार्य्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया। इसकी भाषा विशेष परिमार्जित तो नहीं है, फिर भी खड़ी-बोली-गद्य का स्वाभाविक विकास अवश्य देखने को मिल जाता है। 'पद्मपुराण' की भाषा का स्वरूप इस प्रकार है:—

'जंबू द्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै

हैं और भूमि विषे साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।'

सन् १७७३-१७८३ ई० के बीच किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक द्वारा 'मंडोवर का वर्णन' नामक पुस्तक लिखी गई। इसकी भाषा साहित्यिक न होकर सामान्य बोल-चाल की है। एक उदाहरण से यह बात विदित हो जायगी :—

'अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुआ। इस लफ़्ज़ का बिगड़ कर मंडोवर हुआ है।'

'सबब', 'जगे', 'लफ़्ज़' आदि शब्दों से भाषा पर फ़ारसी का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।'

इसी प्रकार सन् १७५३ ई० के आस-पास एक गद्य-रचना किसी अज्ञात लेखक द्वारा और लिखी कही जाती है। इसका नाम है—'चकत्ता की पातस्याही की परम्परा'। ऐसी ही एक रचना 'कुतबदी साहिजादे री वात' सन् १७६० ई० के पूर्व लिखी कही जाती है। 'चकत्ता की पातस्याही की परम्परा' की भाषा राजस्थानी-मिश्रित खड़ी बोली है। उसकी भाषा का नमूना देखिए :—

"पीरोजसाह पातस्याह दिली। पातस्याही करै। तिसके ज राव खिखरसिंघ, गलत सभा, सुलतान। तिसके दरियासाह बेटा। दुसरा महमद साह बेटा।'

इस काल में अधिकांश समय तक खड़ी-बोली-गद्य की अधिक रचनाएँ देखने को नहीं मिलतीं। सम्भव है और भी लिखी गई हों, लेकिन अन्वेषण-कार्य्य के अभाव में केवल इनी-गिनी गद्य-पुस्तकों को देखकर ही रह जाना पड़ता है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, केवल 'योगवासिष्ठ' नामक गद्य-ग्रंथ की ही भाषा परिमार्जित और साहित्यिक है। अन्य गद्य-

पुस्तकों के द्वारा गद्य का कोई विकास नहीं हुआ। हाँ, इतना तो अवश्य हुआ कि इन गद्य-पुस्तकों ने आगे के लिए अच्छी-खासी भूमि तैयार कर दी और लेखकों के लिए हिंदी-गद्य का द्वार खोल दिया, यह हमें निःसंकोच रूप से स्वीकार अवश्य करना पड़ेगा। इस काल के अन्तिम भाग में जाकर खड़ी बोली की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ और उसमें अच्छी-अच्छी रचनाएँ होने लगीं। ऐसे लेखकों में मुन्शी सदासुखलाल नियाज़ (सन् १७४६-१८२४) और इंशाअल्ला-खाँ के नाम चिरस्मरणीय हैं। उनसे आगे चलकर अंग्रेजों के शासन-काल में लल्लूलाल और सदलमिश्र हुए, जिन्होंने सरकार की ओर से हिन्दी के लिए काम किया। इन चारों लेखकों का हिंदी-गद्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्हीं से हिन्दी-गद्य का एक नूतन युग आरम्भ होता है। इसलिए मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़' और इंशाअल्लाखाँ की गद्य-सेवाओं का उल्लेख इस स्थान पर न कर इन शेष दो लेखकों के साथ ही कर दिया गया है, यद्यपि वे इसी काल के हैं।

: ३ :

हिंदी-गद्य का निर्माण-काल

(सन् १८००-१८६५ ई०)

(अ) फोर्ट विलियम कालेज के अन्दर और बाहर।

उत्तर-माध्यमिक काल के अन्तिम भाग से लेकर आधुनिक काल के आरम्भ तक खड़ी बोली की ओर लेखकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। लल्लूलाल और सदलमिश्र के पूर्व-माध्यमिक काल के अन्तिम भाग के दो गद्य-लेखक साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर चुके थे। बात वास्तव में यह है कि लल्लू-

लाल और सदलमिश्र अँग्रेजों की अध्यक्षता में कार्य्य कर रहे थे और इधर मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़' और सैयद इंशा-अल्लाखाँ स्वतन्त्र रूप से गद्य-साहित्य का सृजन कर रहे थे। यदि इन चारों लेखकों को एक साथ लेकर गद्य-साहित्य के विकास पर दृष्टि डाली जाय तो हम निःसंकोच कह सकते हैं कि आधुनिक-गद्य के जन्मदाता ये ही हैं। इसी लोभ के वशीभूत होकर इन चारों लेखकों को इस अध्याय में एक साथ ले लिया गया है।

गद्य-साहित्य के इस निर्माण-काल में इन लेखकों ने गद्य-साहित्य का आरम्भ कथा-साहित्य से किया है। इसका प्रमुख कारण एक-मात्र मनोरंजन है। अतः इन लेखकों की रचनाओं में भाव-प्रकाशन की बलिष्ठता, व्यंजना-शक्ति का प्रादुर्भाव और उच्च तथा महत् विचारों का गवेषणापूर्ण चिन्तन दृष्टिगत नहीं होता। मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़' (सन् १७४६-१८२४ ई०) कथा का रूप लेकर हमारे सामने आते हैं। उर्दू-फ़ारसी की अनेक पुस्तकें लिखने के अनन्तर आपने हिंदी में श्रीमद्भागवत् का स्वतन्त्र रूप से 'सुखसागर' नाम का अनुवाद प्रस्तुत किया। 'योगवासिष्ठ' का-सा गद्य एक बार पुनः हमें मुन्शी जी की इस रचना में देखने को मिलता है। मुन्शीजी एक भगवद्भक्त थे, धर्म पर उनकी अटल धारणा थी। इसीलिए उनकी भाषा इतनी शान्त, गम्भीर और संयत है। 'सुखसागर' की भाषा शिष्टसमाज के व्यवहार की खड़ी बोली है। मुन्शी जी की भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्द नहीं पाये जाते। जैसा विषय है, वैसी ही उसकी भाषा है। कहीं-कहीं पंडिताऊ प्रयोग अवश्य देखने को मिल जाते हैं। 'बात होय', 'को', 'हेतु', 'तात्पर्य' आदि शब्द इसी पंडिताऊपन के प्रमाण हैं। 'आवता-जावता' का प्रयोग अधिक किया गया है। 'तात्पर्य', 'सत्तोवृत्ति', 'प्राप्त', 'स्वरूप' आदि

तत्सम शब्दों के प्रयोग से भाषा का सुनहला भविष्य यहीं से दिखाई देने लग जाता है । जिस प्रकार अरबी-फ़ारसी की मिली हुई भाषा को उर्दू कहते हैं, उसी प्रकार इस संस्कृतमिश्रित हिंदी को उर्दू वाले 'भाखा' के नाम से पुकारने लगे । मुन्शीजी ने हिन्दू-समाज की शिष्ट-व्यवहार की भाषा को ही अपनाया, यह उनके 'सुखसागर' से स्पष्ट है । इस प्रकार हमें उनकी गद्य-शैली में खड़ी बोली के स्वतन्त्र उदाहरण देखने को मिलते हैं। संक्षेप में, मुन्शी जी ने खड़ी बोली के भावी साहित्यिक रूप का आभास इस समय में ही दे दिया। उनकी भाषा का यह उदाहरण देखिए:—

'धन्य कहिये राजा दधीच को कि नारायण की आग्या अपने सीस पर चढ़ाई । जो महाराज की आग्या और दधीच के हाड़ का वज्र न होता तो ग्यारह जनम ताईं वृत्रासुर से युद्ध में सरबर और प्रबल न होता और न जय पावता ।'

सैयद इंशाअल्लाखाँ ने सन् १७९८-१८३० ई० के बीच में हिन्दी-गद्य की 'उदयभानचरित' या 'रानी केतकी की कहानी' लिखी । अब तक के गद्य-साहित्य में यह एक नवीन आयोजन है । मुन्शी जी गद्य में कथा का रूप लेकर आगे आये थे, खाँ साहब ने उसे कहानी का रूप दिया । खाँ साहब मौजी आदमी थे । उनकी रचनाएँ प्रायः मनोविनोद के लिए हुआ करती थीं । उनकी मनोवृत्ति ठेठ हिन्दी लिखने की ओर ही थी ।

अतः खाँ साहब के गद्य में हमें शब्दों का तद्भव रूप देखने को मिलेगा । देशज रूप में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है । प्रथम, बाहर की बोली के शब्द जैसे अरबी, फ़ारसी, तुरकी । द्वितीय, देहाती या गँवारी बोली के शब्द जैसे व्रजभाषा, अवधी आदि के । तृतीय, भाखापन, अर्थात् संस्कृत के शब्दों का मेल । कहने का अभिप्राय यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम विशुद्ध हिंदवी में लिखने का प्रयत्न किया । लेकिन इस समय

मुसलमानों की अरबी-फ़ारसी भाषा का प्रभाव उर्दू-रचनाओं पर पड़ रहा था। प्रथम तो, उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों का तत्सम रूप में अधिकता से प्रयोग होता था। द्वितीय, उर्दू पर फ़ारसी के व्याकरण का बढ़ता हुआ प्रभाव था, जैसे बहुवचन का रूप प्रायः फ़ारसी के अनुसार होता था। तृतीय, सम्बन्ध, करण, अपादान और अधिकरण कारकों की विभक्तियाँ हिंदी के अनुसार न होकर फ़ारसी के शब्दों या चिह्नों द्वारा प्रदर्शित की जाती थीं। चतुर्थ, वाक्य-विन्यास का ढंग उल्टा हो रहा था। हिंदी में पहले कर्त्ता, तब कर्म और अन्त में क्रिया होती है; पर उर्दू में इस क्रम में उलट-फेर होता है। इंशाअल्लाखाँ के गद्य पर इसी चतुर्थ फ़ारसी ढंग की वाक्य-विन्यास की प्रणाली का प्रभाव पड़ा है, लेकिन बहुत ही कम, जैसे 'रानी केतकी की कहानी' के आरम्भ ही में देखिए :—

(१) 'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया।'

(२) 'इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को।'

भाषा को कला के रूप में ग्रहण करनेवाले इंशाअल्लाखाँ ने यद्यपि अधिकांश में ठेठ हिंदी के शब्दों को अपनाया है, पर उर्दू मुहावरों का प्रयोग भी अधिकता से किया है। इसका कारण यह है कि वे इसके पूर्व उर्दू में कविता लिखते थे, इसलिए भाषा की मनोहरता की ओर उनका ध्यान अधिक गया। वे उर्दू की चपलता और चंचलता हिंदी में भी लाये। 'सिर मुंडवाते ही ओले गिरना', 'दाल में काला', 'बात पर पानी डालना' आदि मुहावरों के प्रयोग से उन्होंने हिन्दी-गद्य की विकास-माला को एक सुन्दर, सुगन्धित और रंग-बिरंगा पुष्प दिया है, इसमें

कोई संदेह नहीं। इसलिए 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा चंचलता और सजीवता लिये हुए है। वह चटकती-मटकती हुई पाठकों का मन-बहलाव करती रहती है।

सानुप्रास विराम (वाक्यों के अन्त में तुक मिलना) इंशा के गद्य की विशेषता है, जैसे—'जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।'

आधुनिक हिंदी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, पर उनमें वचन-सूचक चिन्ह नहीं रहते। प्राचीन उर्दू में यह बात नहीं थी—उसमें वचनसूचक चिह्नों का प्रयोग होता था। इंशा ने भी ऐसे प्रयोग किये हैं और यह उनके गद्य की एक विशेषता है। उदाहरणार्थ 'आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। उसके बिन ध्यान यह सब फाँसे हैं।' यह अपभ्रंश-काल की सी प्रवृत्ति है।

इंशाअल्लाखाँ ने शब्दों के बहुवचन प्रायः ब्रजभाषा के अनुसार बना लिये हैं। क्रिया-पदों में भी ब्रजभाषा की छाप मिलती है। कहीं-कहीं ब्रजभाषा की विभक्तियों का भी प्रयोग हुआ है। सारी पुस्तक घरेलू ठेठ भाषा के समान आनन्द प्रदान करती है :—

'इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कह कर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।'

हिन्दवीपन की प्रतिज्ञा के पालन करने में, इंशाअल्लाखाँ कहाँ तक सफल हो सके हैं, यह ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है।

सदासुखलाल और इंशाअल्लाखाँ के गद्य-साहित्य की संक्षिप्त समीक्षा के अनन्तर अब हम कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज के दो भारतीय अध्यापक—लल्लूलाल और सदलमिश्र की गद्य-सेवाओं का उल्लेख करेंगे। ये दोनों अध्यापक अंग्रेज़ अफ़सर गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में कार्य कर रहे थे। लल्लूलाल (सन् १७६३-१८२५ ई०) ने सन् १८०३ ई० में भागवत के दशम स्कंध की कथा को लेकर 'प्रेमसागर' नामक पुस्तक लिखी। 'प्रेमसागर का मुख्य आधार चतुर्भुजदासकृत दशमस्कंध का पद्यानुवाद है, जो व्रजभाषा में लिखा गया था। इसीलिए 'प्रेमसागर' पर व्रजभाषा का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है और कहीं कहीं कृत्रिमता भी लक्षित होती है। साहित्यिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना नहीं है। इसका प्रयोजन केवल हिन्दुस्तानी भाषा के लिए मुहावरों की पूर्ति करना तथा सिविलियन विद्यार्थियों को, भारतीय रहन-सहन और उनके रीति-रिवाजों का ज्ञान कराना था। इस दृष्टि से भी वह सफल नहीं बन पड़ी। 'प्रेमसागर' की भाषा में लेखक ने अरबी-फ़ारसी के शब्दों से बचने का प्रयत्न अवश्य किया है, लेकिन फिर भी अनजान में 'बैरख' (झंडा) जैसे विदेशी तुर्की शब्दों का प्रयोग अवश्य देखने को मिलता है—'शिव जी ने एक ध्वजा बाणासुर को देके कहा इस बैरख को ले जाय।' सच तो यह है इसकी भाषा चतुर्भुजदास की भाषा का प्रतिरूप होने के कारण उसमें गद्य-शैली का कोई विकास नहीं दिखाई देता। कथा-वार्ताओं के लिए यह शैली अधिक उपयुक्त हो सकती है, हिन्दी-गद्य के लिए नहीं। 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'लीजौ' ऐसे

शब्दों का प्रयोग बराबर हुआ है। गंग कवि की भाषा भी कुछ ऐसी ही थी, लेकिन जहाँ गंग ने अपने गद्य को प्रचलित अरबी-फ़ारसी के शब्दों से सँवारा है, वहाँ लल्लूलाल ने उसे इन प्रयोगों से दूर रक्खा है। भाषा अनियंत्रित और अव्यवस्थित है। शब्द-चयन अवश्य सुन्दर बन पड़ा है। तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया गया है। कहीं-कहीं तुकबन्दी भी देखने को मिलती है। वाक्यांश ऐसे बन पड़े हैं कि जिनमें क्रम-बद्धता का ह्रास हो गया है। 'प्रेमसागर' का यह उदाहरण देखिए :—

'इतनी कथा कह शुकदेव जी राजा परीक्षित से कहने लगे कि राजा, जब पृथ्वी पर अति अधर्म होने लगा तब दुख पाय घबराय गाय का रूप बन राँभती देवलोक में गई और इन्द्र की सभा में जा सिर झुकाय उसने अपनी सब पीर कही कि महाराज, संसार में असुर अति पाप करने लगे, तिनके डर से धर्म तो उठ गया और मुझे आज्ञा हो तो नरपुर छोड़ रसातल को जाऊँ।'

लल्लूलाल की दूसरी कृति 'राजनीति' (सन् १८०२ ई०) है जो ब्रजभाषा में लिखी गई है। यह रचना भी असम्बद्ध और शिथिल है। उनके 'बैताल पच्चीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' नामक ग्रन्थों की भाषा रेख़ता या हिन्दुस्तानी या उर्दू है। गिलक्राइस्ट जिस भाषा के पक्षपाती थे, उस भाषा का रूप इन दो कृतियों में देखा जा सकता है। मुसलमान और मुसलमानी दरबार के हिंदू इस भाषा का प्रयोग करते थे। यह भाषा जन-साधारण से दूर थी।

लल्लूलाल के साथी सदलमिश्र ने सन् १८०३ ई० में 'चंद्रावती', या 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इसकी भाषा साफ़ सुथरी न होने पर भी व्यावहारिक है। जहाँ तक बन पड़ा है, उसमें खड़ी बोली के शब्दों का ही प्रयोग किया गया है।

उर्दू शब्दों से दूर रहने का लेखक ने अपनी ओर से कोई प्रयास नहीं किया, इसलिए स्वाभाविकता पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने पाई है। मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है, जिससे भाषा में मनोहरता आ गई है। ब्रजभाषा के रूप और पूरबी बोली के शब्दों का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है। जैसे 'फूलन्ह के बिछौने', 'चहुँदिस', 'सुनि' 'सोनन्ह के थंभ', 'इहाँ'; 'मतारी', 'बरते थे', 'बाजने लगा', 'जौन' आदि। पूर्व-कालिक क्रियाओं के लिए उन्होंने ब्रजभाषा के रूप अपनाये हैं। 'पूजा करके' के स्थान पर 'पूजा करि' आदि। 'ड' को 'र' बोलने वाली बिहार की प्रवृत्ति का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है जैसे 'गाड़ी' का 'गारी'; 'घोड़ा' का 'घोरा' आदि। 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा में अतएव एकरूपता का अभाव है। कहीं-कहीं भाषा गठीली और परिमार्जित है, तो कहीं-कहीं अशक्त और शिथिल। लेकिन इतना होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि लेखक की भाव-प्रकाशन की पद्धति अपूर्व है। उदाहरण देखिए :—

'सुनते ही वे मंत्रियों को साथ ले दौड़े हुए आए। आवते ही मुनि के चरणों पर गिर पड़े और हाथ पकड़ भीतर ले जा अपने सिंहासन पर बैठाय कुशलक्षेम पूछ गंगाजल ले ऋषि के पाँव पखार चरणोदक लिए। और जैसा कुछ चाहिए, वैसा आदर-मान कर हाथ जोड़ कहने लगे कि महाराज! बड़ा अनुग्रह किया जो आके दर्शन दिया। अब हमारी सब क्रिया वो जन्म सुफल हुआ।'

हिंदी-गद्य के जिन चार जन्मदाताओं का परिचय ऊपर कराया गया है, उनमें मुन्शी सदासुखलाल का एक विशेष स्थान है। लल्लूलाल और सदलमिश्र सरकारी पद पर होने के कारण सरकार की नीति का अनुशीलन करते रहे, उनके द्वारा गद्य का विकास न हो सका। फिर लल्लूलाल की भाषा

कृत्रिमतापूर्ण थी। वह प्रमुख रूप से पद्य का गद्यानुवाद मात्र है। इंशाअल्लाखाँ की भाषा कुदकती फुदकती हुई है। वह कहानियों के लिए भले ही उपयुक्त हो लेकिन व्यवहारोपयोगी नहीं हो सकती। सदलमिश्र की भाषा कुछ-कुछ गद्य के अनुकूल अवश्य बन पड़ी है, इसलिए केवल उनकी समानता ही मुन्शी जी से हो सकती है। पर सदलमिश्र की भाषा का रूप सर्वत्र एक-सा नहीं दिखाई देता। इसलिए केवल मुन्शी सदासुखलाल ही एक ऐसे गद्य-लेखक रह जाते हैं, जिनमें आधुनिक खड़ी बोली के दर्शन होते हैं। आधुनिक गद्य का पूर्वाभास उन्हीं में होता है, अतः हिंदी-गद्य का प्रवर्त्तन यथार्थ में उनके द्वारा ही हुआ, यह हमें मान लेना चाहिए।

(अ) हिन्दी-ईसाई-गद्य—

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हो जाने के बाद गद्य-साहित्य की जो उन्नति होने लगी, उसका सबसे अधिक लाभ ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने उठाया। इन ईसाई-धर्म-प्रचारकों का एक-मात्र उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था, हिंदी-गद्य की उन्नति की भावना उनमें लेश-मात्र भी नहीं थी। ईसाई-धर्म-प्रचारकों द्वारा भाषा-साहित्य का काम विलियम केरे (William Carey) से आरम्भ हुआ, जो भारतवर्ष में सन् १७९३ ई० में आये। उनका और उनके साथियों का प्रधान उद्देश्य ईसाई-धर्म और बाइबिल का प्रचार करना ही था। इन दोनों साध्यों के लिए उन्होंने विविध साधनों का प्रयोग किया। केरे ने सर्वप्रथम बंगला में धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद किया। सन् १८०१ ई० में 'नए धर्म नियम' (New Testament) का अनुवाद प्रकाशित हुआ। सन् १८०२ ई० में इसी 'नए धर्म नियम' (New Testament) का हिन्दी-अनुवाद किया गया। साथ ही सन् १८०१-१८३२ ई० के बीच केरे और अनेक अंग्रेज पादरियों ने इंजील

का अनुवाद उत्तर-भारत की समस्त प्रांतीय भाषाओं में किया। श्रीरामपुर में विलियम केरे, मार्शमैन और वॉर्ड द्वारा डेनिश मिशन की स्थापना से छोटी-मोटी अनेक पुस्तकों तथा पैम्फलेटों का प्रकाशन जारी रहा। ऐसा कहा जाता है कि केरे ने स्वयं बाइबिल का अनुवाद किया था। इन धर्म-प्रचारकों ने सदासुखलाल और लल्लूलाल की भाषा को ही अपना आदर्श माना। इनके संस्मरणात्मक लेखों से पता चलता है कि उनके 'हिन्दी' या 'हिन्दूई' शब्दों से उनका तात्पर्य हिन्दुस्तानी से था, जो कि सर्व-साधारण द्वारा काम में लाई जाती थी। बाइबिल के अनुवाद में इन लोगों का ध्यान ठेठ बोल-चाल और व्यवहार के शब्दों की ओर अधिक गया है। अरबी, फारसी, उर्दू आदि शब्दों का प्रयोग यथा-सम्भव कम किया गया है। मूल वाक्य-रचना तथा शैली अंग्रेजी में होने के कारण अनुवादित भाषा में वाक्य-संगठन शिथिल दिखाई पड़ता है। इसमें 'करने वाले' के स्थान पर 'करन हारे' 'तक' के स्थान पर 'लों' आदि शब्द प्रयोग में लाये गये हैं। 'आय-जाय' की जगह 'आके-जाके' से ही काम चलाया गया है। ग्रामीण शब्द भी स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं। कहीं-कहीं विभक्तियों के चिह्न छोड़ दिये गये हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

'तब यीशु ने तुरन्त अपने शिष्यों को दृढ़ आज्ञा दिई कि जब लों मैं लोगों को विदा करूँ तुम नाव पर चढ़ के मेरे आगे उस पार जाओ। वह लोगों को विदा कर प्रार्थना करने को एकान्त में पर्व्वत पर चढ़ गया और सांझ को वहाँ अकेला था। उस समय नाव समुद्र के बीच में लहरों से उछल रही थी क्योंकि बयार सन्मुख थी।'

इन लोगों के द्वारा क्रमशः 'चर्च मिशनरी सोसायटी' और 'नार्थ-इण्डिया क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐण्ड बुक सोसायटी' की स्थापना हुई, जिनके द्वारा भी उनकी धार्मिक पुस्तकों, पैम्फलेटों तथा पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन होता रहा। श्रीरामपुर में ईसाइयों के प्रेस

की स्थापना हो ही चुकी थी, इसलिए उनकी धार्मिक बातों का प्रचार शीघ्रता से होता था। इसी प्रेस से 'दाउद की गीतें' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसकी भाषा अशुद्ध और अपरिमार्जित है। अशुद्ध मुहावरे तथा व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ तो स्थान-स्थान पर पाई जाती हैं। इसमें अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। देखिए—

'बदकारों की तरफ से मत कुढ़ वा अधर्मियों को देखके मत जल ॥ क्योंकि वे घास के ऐसे जल्दी काटे जाँगे वा हरी घास के ऐसे मुर्झाय जाँगे। यिहुद में भरोसा रख वा भला काम कर देश में रह वा सत्य को भोगा कर ॥ यिहुद में संतुष्ट हो वा तेरे हिया की वांछा तुझे देगा।'

हिन्दी गद्य में सर्वप्रथम पाठ्य-पुस्तकों की रचना का श्रेय इन्हीं धर्म-प्रचारकों को है। आगरा, मिर्जापुर, मुंगेर आदि स्थानों में इनके केन्द्र थे। वहाँ स्कूलों और अस्पतालों की भी स्थापना हुई। स्कूलों के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार करवाई गई। आगरे में 'स्कूल बुक्स सोसायटी' के नाम से एक प्रकाशन-संस्था खुली। सन् १८३७ ई० में इस सोसायटी के द्वारा इंग्लैंड का इतिहास और सन् १८३८ ई० में मार्शमैन साहब के प्राचीन इतिहास का अनुवाद, 'कथासार' के नाम से प्रकाशित कराया गया। अनुवाद की भाषा विशुद्ध और पंडिताऊ है।

'स्कूल बुक्स सोसायटी' के ही अन्तर्गत पंडित ओंकार भट्ट ने 'भूगोलसार' और पंडित बद्रीलाल शर्मा ने 'रसायन प्रकाश' की रचना की। कलकत्ते में भी 'स्कूल-बुक-सोसायटी' खुली और वहाँ 'पदार्थ विद्यासार' जैसी वैज्ञानिक पुस्तकें लिखी गई। कुछ रीडरें भी लिखी गई, जिनमें 'आजमगढ़ रीडर' मुख्य है। इसी प्रकार ईसाइयों ने मिर्जापुर में एक 'आरफ़ेन प्रेस' खोला और उसके द्वारा भूगोल, इतिहास, विज्ञान, रसायन शास्त्र आदि विषयों पर पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित की गई।

बाइबिल के अनुवादों के अतिरिक्त अपने धर्म के प्रचार के लिए इन लोगों ने और भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं। ये लोग इन पुस्तकों को बिना दामों जनता में वितरण करते रहते थे। इन पुस्तकों में उन्होंने हिंदू-धर्म को नीचा बतलाते हुए अपने धर्म की श्रेष्ठता बतलाई है। यथार्थ में वे इसकी कुरान और पुराणों से तुलना कर जनता को यह बात स्पष्ट कर देना चाहते थे कि ईसाई-धर्म के अतिरिक्त और कोई धर्म इस संसार में उच्च तथा श्रेष्ठ नहीं है। इन पुस्तकों ने निम्नवर्ग के लोगों पर एक ऐसा जादू कर दिया कि वे अपने धर्म को छोड़ कर उनका धर्म स्वीकार करने लगे। आगरा, इलाहाबाद, सिकन्दरा, बनारस, फर्रुखाबाद आदि बड़े-बड़े शहरों में इनके छापेखाने खुल गये थे और प्रायः उत्तरी-भारत के सभी बड़े-बड़े नगरों में उनकी संस्थाओं के दफ्तर थे। इसलिए थोड़े ही समय के भीतर असंख्य पुस्तकें प्रकाशित हो गईं। उदाहरण के लिए यहाँ 'योग वैराग्य तीर्थ तपस्या का वृत्तांत' में से गद्य का नमूना दिया जाता है—

'वह तुम्हारे देवतों के समान नहीं है जो मर मिटे हैं—रामचन्द्र सरजू नदी में लछमण के शोक के मारे डूब मरा—कृष्ण प्रभास तीर्थ के वन में भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का शिर शिव ने काटा – विष्णु को शिव जो उसके काले बाल का अवतार था निगल गया। शिव ने भीमसेन के डर के मारे हिमालय में प्राण तजा। इस रीति सब देवते जिन पर तुम मुक्ति आशा रखते हो मर मिटे।'

इस प्रकार की अनेक पुस्तकें लिखी गईं जैसे—'धर्माधर्म परीक्षा', 'मत परीक्षा', 'स्त्रियों का वर्णन', 'मूर्त्तिपूजा का वृत्तांत', 'निर्मल जल', केशवराम की कथा', 'धर्म तुला', 'ऋण विचार', 'गुरु परीक्षा', 'हिंदू धर्म का वर्णन', 'धर्म पुस्तक' आदि-आदि। इन सब में उन लोगों ने अपने धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। बाइबिल के अनुवाद और इन छोटी-मोटी असंख्य

पुस्तकों की भाषा ईसाई-धर्म-प्रचारकों को इस बात का तो प्रमाण-पत्र दिलवा सकती है कि उन्होंने केवल थोड़े समय के भीतर ही हिन्दी-भाषा को सीख लिया और वे इसमें लिख-पढ़ भी सकते थे, लेकिन यह बात नहीं कि उनके द्वारा गद्य-साहित्य के विकास की उन्नति हुई है। इनमें तो हमें हिन्दी गद्य की एक झाँकी मात्र मिलती है, चित्र नहीं।

लेकिन हाँ, ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त इतना तो हमें मानना पड़ेगा कि उनका गद्य अत्यन्त सीधा और सरल है। एक चलती हुई भाषा में अपने भावों को तर्क केसाथ अभिव्यक्त करना उन्हें खूब आता था। अधिक से अधिक उनकी यही देन है। अन्त में हमें यही कहना पड़ेगा कि यद्यपि ईसाई-धर्म-प्रचारकों के द्वारा लिखे गये गद्य की भाषा शिथिल और व्याकरण सम्बन्धी दोषों से भरी हुई थी और हिन्दी-गद्य की उन्नति की भावना उनमें लेश-मात्र भी नहीं थी, तथापि हिन्दी-गद्य के विकास में उनका एक प्रशंसनीय हाथ अवश्य रहा है। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों तथा नागरी लिपि के सुन्दर टाइप के अभावों की पूर्ति हिंदी-साहित्य में सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा हुई, जिससे आगे गद्य-साहित्य के विकास में एक विशेष सहायता मिली। इसका यह अर्थ निकालना कि इनके द्वारा हिन्दी-गद्य की उन्नति और पुष्टि हुई, अपनी अल्पबुद्धि का परिचय देना है। हिन्दी-गद्य के विकास का प्रधान कारण समय का तकाजा था, समय और परिस्थितियों का हेर-फेर था; ईसाई-धर्म-प्रचारकों के द्वारा दी गई वस्तुएँ उस विकास की साधन-मात्र थीं, साध्य नहीं, यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

(इ) भाषा संबन्धी प्रस्ताव और ईसाई-गद्य की प्रतिक्रिया:—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हो जाने के बाद भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव दृढ़ होती गई। संपूर्ण भारत पर

अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। भारतवासी अपने स्वातंत्र्य-सुख से सर्वदा के लिए वंचित हो गये। धीरे-धीरे शासन-सुधार सम्बन्धी नीति से यहाँ की जनता में असन्तोष की लहर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। सन् १८५८ ई० में भारत का शासन-सूत्र इंग्लैंड की सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और यहाँ शासन-भार सम्हालने के लिए उसने अपनी ओर से एक 'वाइसराय' भेजना आरम्भ किया। इनके आने से अनेक कानून (Act) पास किये गये, जिनका सम्बन्ध राजनीति और धर्म से था। इन सुधारों के साथ ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज के विभिन्न आन्दोलनों के कारण भी जनता का ध्यान समाज-सुधार की ओर गया। विज्ञान की यथेष्ट उन्नति हो चुकी थी और इसलिए भारतवासियों का सम्पर्क अन्य प्रान्तों से उत्तरोत्तर गाढ़ा होने लगा। इसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अंग्रेज़ी शिक्षा के अनिवार्य हो जाने और अदालत की भाषा उर्दू हो जाने से साहित्यिक जगत् में कई दिनों तक उदासी के बादल मँडराते रहे। साथ ही, हिन्दी-लेखकों ने सर्वप्रथम इस बात का अनुभव किया कि अब पद्य-रचना से ही काम नहीं चल सकता। उन्हें समय के साथ-साथ आगे बढ़ने के लिए गद्य की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। वाद-विवाद, धर्मोपदेश तथा किसी तथ्य-निरूपण के लिए गद्य की आवश्यकता का अनुभव इससे पूर्व उन्हें कभी नहीं हुआ था। इधर जब ईसाई-धर्म-प्रचारकों के द्वारा प्रेस की सुविधा प्राप्त हो गई, तो हिन्दी वालों को ढाढ़स मिला।

हिन्दी की इस शोचनीय परिस्थिति के बीच ही कानपुर-निवासी जुगलकिशोर शुक्ल ने, जो कलकत्ते में रहते थे, सन् १८२६ ई० में 'उदंत-मार्तण्ड' नामक एक समाचार पत्र

निकाला, जो हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र माना जाता है। इस समाचार-पत्र की भाषा बंगला से प्रभावित थी। उर्दू और अंग्रेजी के व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग इसमें अधिक हुआ था। दुर्भाग्य से यह पत्र केवल एक वर्ष तक ही चल सका। इसमें 'खड़ी बोली' के स्थान पर 'मध्यदेशीय भाषा' का प्रयोग किया गया था।

लार्ड मैकाले की अंग्रेजी-शिक्षा के प्रचार की आयोजना के अनुसार अंग्रेजी भाषा में शिक्षा की व्यवस्था होने लगी। इससे हिंदी-गद्य को एक गहरी ठेस लगी और उसका प्रचार कम होने लगा। अंग्रेजों ने अदालती भाषा के लिए मुगलों के समय से आती हुई फ़ारसी भाषा के क्रम को जारी रखा। अदालती भाषा फ़ारसी में हो जाने के कारण हिन्दी की जो दुर्गति हुई, उसके दुष्परिणाम आज इस स्वातंत्र्य-युग में भी हम भोग रहे हैं। आज भी जब हिन्दी-भाषा-भाषियों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तो उस समय लोगों की क्या अवस्था होगी, इसका अनुमान हम सहज ही में लगा सकते हैं। एक अदालती इश्तहार की भाषा से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

'सब कोई को खबर दिया जाता है कि शहर कलकत्ता का उत्तर डिवीजन का शामिल मोकाम अगडा तल्ला गोविनचाँद धर लेन में इगारह नंबर का जमीन—उओ जमीन का नाप पाँच काठा, उसका कुच कमी होय और वेसी होय—उओ जमीन और सुरती बागान के रहने वाला उसका मालिक बाबू हरिनारायन चक्रवर्ती उसको बेचने माँगता है।'

सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-योजना के अनुसार जब कठिनाइयाँ अधिकाधिक बढ़ने लगीं, तो एक हुक्म जारी किया कि अदालत का सारा काम देश की प्रचलित भाषाओं में

हुआ करे, पर इस हुक्म की कोई उचित व्यवस्था नहीं हो सकी। मुसलमानों ने उर्दू के लिए और हिंदी वालों ने हिंदी के लिए दौड़-धूप करना शुरू किया। संघर्ष चलता रहा। संयुक्त-प्रांत में उर्दू का प्रचलन था ही, अतः दफ़्तरों की भाषा भी उर्दू कर दी गई।

ऐसे विपत्ति-काल में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द गद्य-क्षेत्र में आये। राजासाहब की कृपा से ही सन् १८४५ ई० में 'बनारस अखबार' निकला। अदालती भाषा उर्दू होने के कारण इस पत्र की भाषा भी उर्दू ही रक्खी गई। लेकिन अक्षर देवनागरी के थे। बीच-बीच में हिंदी के शब्द जैसे 'धर्मात्मा', 'परमेश्वर', 'दया' आदि रख दिये जाते थे। इस इच्छा से कि हिंदी का रूप बिल्कुल ही नष्ट न हो जाय। हिंदी-जनता जब इस पत्र की भाषा को अच्छी तरह नहीं समझ सकी तो एक दूसरा पत्र 'सुधाकर' निकला। इसकी भाषा सुधरी हुई साफ़ हिंदी थी, आगरे के मुन्शी सदासुखलाल ने 'बुद्धिप्रकाश' नामक पत्र निकाला और इस प्रकार हिंदी भाषा को उर्दू के प्रहारों से बचाने का प्रयत्न किया। 'बुद्धिप्रकाश' की भाषा इस प्रकार की थी—

'कलकत्ते के समाचार...इस पश्चिमीय देश में बहुतों को प्रकट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गंगा-तट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और 'हरी बोल, हरी बोल' कह कर उसका जीव लेते हैं।'

इधर अदालती भाषा उर्दू हो जाने से मुसलमानों का साहस बढ़ गया था। जब सरकार की ओर से स्थान-स्थान

पर स्कूलों की स्थापना हुई और उनमें देशी भाषा का प्रश्न छिड़ा तो मुसलमानों ने एक बार पुनः इस बात के लिए भरसक प्रयत्न किया कि कहीं हिंदी मदरसों में न घुसने पावे। सरकार ने हैरान होकर देशी भाषा का प्रश्न अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दिया। हिंदी के लिए विरोध बढ़ता ही रहा। हिन्दू-मुस्लिम समस्या की तरह हिंदी-उर्दू का प्रश्न जटिल होता गया। उर्दू के हिमायती थे—सर सैयद अहमद साहब, जो अंग्रेजों के खास पिट्ठू थे। इधर हिन्दी की रक्षा का भार राजा शिवप्रसाद ने ले रक्खा था। जब राजा साहब की शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर-पद पर नियुक्ति हुई, तो इन्होंने हिन्दी के लिए अमूल्य सेवाओं का परिचय दिया। मुसलमानों की ओर से घोर विरोध होने पर भी हिन्दी को स्कूलों में स्थान दिलाया। सदासुखलाल, इंशा-अल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदलमिश्र गद्य-क्षेत्र में कुछ काम अवश्य कर गये थे, कुछ काम ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने भी किया था, लेकिन इतना होने पर भी व्यावहारिक भाषा का निर्माण नहीं हो सका था।

हिन्दी-उर्दू के झगड़े के बीच अच्छी-अच्छी पाठ्य-पुस्तकों को तैयार करवाने का श्रेय राजा शिवप्रसाद ही को है। उनके द्वारा तैयार की गई पाठ्य-पुस्तकों के नाम ये हैं—'आलसियों का कोड़ा', 'राजा भोज का सपना', 'भूगोल हस्तामलक', 'इतिहासतिमिरनाशक', 'गुटका', 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल', 'मानव धर्मसार', 'सिक्खों का उदय और अस्त', 'योगवासिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद्-सार' आदि। राजासाहब की भाषा आरम्भ में बहुत सीधी-सादी है। उसमें बोल-चाल की सरल हिंदी का रूप देखने को मिलता है। प्रचलित उर्दू शब्दों का प्रयोग भी उसमें हुआ

है। आरम्भ में तो उन्होंने एक मध्यवर्ती मार्ग का ही अवलंबन किया। संस्कृत के चलते और साधारण प्रयोगों में आने वाले तत्सम शब्दों का प्रयोग इस काल के गद्य की विशेषता है। इसके साथ अरबी-फ़ारसी के चलते हुए शब्दों का मोह नहीं छूट सका। हिंदी भाषा में विदेशी शब्दों के नीचे बिन्दी देकर शुद्ध विदेशी रूप में लिखने का आरम्भ सर्वप्रथम राजा साहब ने ही किया। लेकिन अंतिम रचनाएँ हिंदी की अपेक्षा उर्दू की ओर अधिक झुकी हुई हैं। ऐसा करने से उनका उद्देश्य हिंदी-उर्दू-समस्या को हल करना था। यह भाषा का एक प्रकार से समझौता समझना चाहिए। उनके आरम्भ और अंतिम समय के गद्यांशों के दो उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(१) वह कौन-सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े बड़े महीपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते हैं और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। ......उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।

(२) इसमें अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिए—अंग्रेज़ी के भी शब्द कंधे से कंधा भिड़ाकर यानी दोश-ब-दोश चमक दमक और रौनक पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़-बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हद्दें कायम हो गई हों और जिसका इंतिज़ाम मुन्तज़िम की अक्लमंदी की गवाही देता है।'

आगे चलकर राजा शिवप्रसाद की गद्य-शैली का प्रत्यक्ष रूप से विरोध करने वाले राजा लक्ष्मणसिंह हमारे सामने आते हैं। उन्हें राजा शिवप्रसाद जैसी भाषा का रूप बहुत खटका और

उसकी कड़ी आलोचना की। उनका कहना था कि हिन्दी और उर्दू दो पृथक्-पृथक् भाषाएँ हैं, उनके बीच समझौता करना बालू से तेल निकालना है। इस उद्देश्य को लेकर उन्होंने सन् १८६१ ई० में 'प्रजा-हितैषी' नाम का एक पत्र निकाला और इसके अगले वर्ष 'शकुन्तला' और 'मेघदूत' का अनुवाद शुद्ध हिन्दी में किया। विदेशी और विशेष रूप से उर्दू शब्दों का प्रयोग आपने नहीं किया। गद्य-शैली सरल है, लेकिन कहीं-कहीं कृत्रिमता अवश्य आ गई है। इसलिए हम उसे व्यावहारिक नहीं कह सकते। वह निबन्ध के लिए सर्वथा उपयुक्त है। देशज शब्दों का एकदम बहिष्कार कर देने से भाषा की संक्षिप्त शक्ति घट गई और यहाँ तक कि विनोदात्मक-शैली में भी शुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया गया है। एक उदाहरण देखिए :—

'उस दिन एक मृगछौना, जिसको मैंने पुत्र की भाँति पाला था, आ गया। आपने बड़े प्यार से कहा कि—आ बच्चे, पहले तू ही पानी पीले। अब तुम्हें विदेसी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया, मेरे हाथ से पी लिया। तब तुमने हँसकर कहा कि सब कोई अपने ही संघाती को पत्याता है, तुम दोनों एक ही बन के बासी हो और एक-से मनोहर हो।'

जैसा कि कहा जा चुका है—ईसाई-धर्म-प्रचारकों का प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ रहा था और यह कुछ लोगों को बहुत बुरा लगा। शिष्ट-हिन्दुओं ने बंगाल के राजा राममोहनराय उपनिषद् और वेदान्त का ब्रह्म-ज्ञान लेकर आगे आये। उनकी तरह हमारे यहाँ सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द ने आर्य-धर्म की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। आर्यसमाजियों ने एक स्वर से हिन्दी को अपनाया और यहाँ तक कि इसका नाम 'आर्यभाषा' रख दिया। दयानन्द के मुख्य-मुख्य ग्रन्थ ये हैं—'सत्यार्थ प्रकाश', 'वेदांग प्रकाश', 'संस्कार विधि', 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका', 'वेदों के भाष्य'।

उनकी भाषा पंडिताऊ ढंग की है। विषय के अनुकूल तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। शैली विशुद्ध है, उर्दू-शब्दों से सर्वथा दूर है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में इस्लाम और ईसाई मतों की कड़ी आलोचना की गई है। इसलिए भाषा में वाद-विवाद करने की शक्ति आ गई है। एक उदाहरण देखिए—

'इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो-जो मर गये हों उनका नहीं करना क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि से दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है।'

गद्य की दृष्टि से इन्हीं के समकालीन बाबू नवीनचन्द्रराय उल्लेखनीय हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य समाज का सुधार करना था। उन्होंने ब्रह्मसमाज के सिद्धांतों और सामाजिक विषयों को लेकर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। कई पत्रिकाएँ भी निकालीं, जिनमें 'ज्ञान प्रदीपिका' मुख्य है। न्याय, धर्म आदि पर इन जैसी प्रौढ़ पुस्तकें कम देखने में आई हैं। उनकी भाषा विशुद्ध हिन्दी है। राजा शिवप्रसाद जैसी भाषा के वे विरोधी थे। उनके प्रभाव से पंजाब में हिन्दी-प्रचार में विशेष सहायता मिली। उनकी 'विधवा-विवाह' पुस्तक का यह उदाहरण देखिए :—

'विधवा विवाह शास्त्र सम्मत अथवा शास्त्र विरुद्ध कर्म है इस विषय की मीमांसा में प्रवृत्त होना हो तो पहले यह निरूपण करना आवश्यक है कि वह शास्त्र कौन-सा है जिसके सम्मत होने से विधवा विवाह कर्त्तव्य समझा जावे और जिसके विरुद्ध होने से अकर्त्तव्य समझा जावे। व्याकरण,काव्य,अलंकार,दर्शन प्रभृति शास्त्र इस विषय के शास्त्र नहीं हैं।'

नवीनचन्द्रराय से प्रभावित होकर पंजाब के प्राच्य महा-विद्यालय के अध्यापक पंडित सुखदयालु शास्त्री ने 'न्याय-

बोधिनी' नामक पुस्तक लिखी । भाषा नवीनचन्द्रराय जैसी है । देखिए :—

यद्यपि मनुष्य जगत् के पदार्थों का प्रत्यक्ष से ही निश्चय कर सकता है; तो भी बहुत पदार्थ परमाणु आदि ऐसे हैं जो युक्तिसिद्ध हैं मानने तो अवश्य पड़ते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष उनका नहीं होता और जानना सम्पूर्ण पदार्थों का अभीष्ट है, इस लिये सब पदार्थों के मिले हुए और भिन्न-भिन्न ऐसे-ऐसे धर्म जानने चाहिएँ कि जो धर्म जिस वस्तु का हो वह उस सारी वस्तु में रहे कोई स्थान रीता न छोड़े और उस वस्तु से भिन्न वस्तु में कहीं न रहे ऐसे धर्म का नाम लक्षण है । जिसका लक्षण करना अभीष्ट है, उसे लक्ष्य कहते हैं ।'

इस काल के अंतिम गद्य-लेखक श्रद्धाराम फिल्लोरी हैं । उनकी 'सत्यामृतप्रवाह' पुस्तक की भाषा बड़ी ही प्रौढ़ और पुष्ट है । संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है । जैसे— 'सापेक्ष', 'स्वभावानुसार', 'परिशांति', 'शोषक' आदि । कहीं-कहीं भाषा पर पंजाबी का प्रभाव दिखाई देता है, जैसे 'कभी' के स्थान पर 'कवी', 'कधी'; 'प्रश्न' के स्थान पर 'प्रष्ण' आदि । सत्यामृत प्रवाह' की भाषा का उदाहरण इस प्रकार है :—

'फिर जो आप कहते हो कि ईश्वर शक्तिमान है इसमें हमारा एक प्रष्ण है । अर्थात् यदि शक्तिमान है तो मेरी बुद्धि को अनीश्वरवाद से फेर के ईश्वरवाद में क्यों नहीं ले आता । यदि कहो तुम्हारे अनीश्वर-वादी होने से उसकी क्या हानि है तो इससे अधिक हानि उसकी क्या होगी कि मैं सहस्रों जन को अनीश्वरवादी बना दूँगा । यदि कहो वह हमारे कहने से कुछ नहीं करता सब कुछ अपनी इच्छा से करता है तो जान गया कि उसकी यही इच्छा है कि मैं अनीश्वरवादी बना रहूँ और कई एक और जनों को भी इसी पथ पर चलाऊँ ।'

निर्माण-काल के उपरोक्त लेखकों के द्वारा हिन्दी-गद्य गतिशील अवश्य हुआ लेकिन उसकी वृद्धि नहीं हो पाई और न

कोई भाषा का आदर्श रूप ही स्थिर हो सका। गद्य-साहित्य के विभिन्न अंगों का प्रस्फुटन वास्तविक रूप में आगे चलकर ही हुआ। भाषा की दृष्टि से राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द एक ओर हैं और राजा लक्ष्मणसिंह तथा ब्रह्मसमाज और आर्य-समाज के लेखक दूसरी ओर। राजा शिवप्रसाद की प्रारम्भिक भाषा में व्यावहारिकता है, लेकिन अन्तिम काल की भाषा उर्दू के शब्दों से लदी हुई है। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में; हिन्दी-गद्य के भविष्य की झांकी अवश्य मिल जाती है। रही बात ब्रह्म समाज और आर्य समाज के लेखकों के सम्बन्ध में सो उन्होंने विशुद्ध हिन्दू-धर्म का पाठ सिखा कर ईसाई-धर्म-प्रचारकों से भारतवासियों को मुक्त किया, लेकिन उनकी भाषा परिमार्जित नहीं हो सकी थी। वह इसलिए कि उसमें केवल एक ही रूप था और वह भी अत्यन्त सीमित। कहने का अभिप्राय यह है कि भाषा अभी तक स्थिर नहीं हो पाई थी। यह तो केवल भाषा का निर्माण-काल था। माँ सरस्वती के यहाँ भाषा-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रस्ताव जा रहे थे। अतः भाषा के सर्व-सम्मत रूप का अनुष्ठान इस समय में हम कैसे देख सकते हैं?

: ४ :

हरिश्चन्द्र-युग

(सन् १८६५-१९०० ई०)

आधुनिक युग का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रचना-काल से आरम्भ होता है। सन् १७५७ ई० के पलासी-युद्ध और सन् १८०१ ई० के लासवाड़ी-युद्ध के परिणाम-स्वरूप पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के संपर्क से भारतवासियों के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लग गये थे। ज्यों-ज्यों ब्रिटिश साम्राज्य की नींव दृढ़ होती गई, त्यों-त्यों पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। सन् १८५७ ई० की राज्य-क्रान्ति ने तो हिन्दी-गद्य का रूप ही बदल दिया। देश की तत्कालीन परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से गद्य का प्रचार द्रुत गति से होने लगा। अभी तक गद्य का नवजात शिशु घुटनों के बल चल कर ही कला की गोद में खेल रहा था, अब उसमें शक्ति का संचार होने लगा। विषयों की अनेक-रूपता का अवलम्ब पाकर वह अपने पैरों पर खड़ा होने लगा। भारतेन्दु के नेतृत्व में गद्य-साहित्य की विशेष उन्नति हुई। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम नये-नये विषयों की ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। उनके तथा समकालीन लेखकों के द्वारा गद्य-लेखन-शैली अनिश्चितता से निकल कर स्थिरता को प्राप्त हुई और अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ, पद्य की अपेक्षा गद्य में लिखी जाने लगीं। इन सब बातों के फलस्वरूप हिन्दी-गद्य का अभूतपूर्व प्रवर्धन हुआ। इसीलिए वर्त्तमान हिन्दी-गद्य के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र माने गये हैं।

(१) निबन्ध

वर्तमान समय में निबन्ध के कला-रूप का इतना बहुमुखी विकास हो गया है कि उसमें व्यक्तित्व की निहृति एक अनिवार्य तत्त्व माना जाता है। आन्तरिक भावों के साक्षात्कार में ही निबन्ध की विशेषता समझी जाती है। आज की परिभाषा की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के लेखकों के निबन्ध भले ही उच्चकोटि के न हों, पर उनमें सरलता, मधुरता और संयत ढंग से व्यक्त करने की क्षमता अवश्य लक्षित होती है। इन लेखकों में विषय-विवेचन की मार्मिकता तो है, लेकिन व्यक्तित्व की निहृति नहीं। इसलिए बहुत से लेखकों के निबन्ध यथार्थ में निबन्ध नहीं कहे जा सकते। यथार्थ में हम जिसे निबन्ध कहते हैं, उसका बीजारोपण इस युग के दो प्रमुख लेखकों—बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र द्वारा हुआ। उनके निबन्धों ने गद्य-शैली को नवीन रूप दिया। भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, दयानन्द, बालमुकुन्द गुप्त आदि की रचनाओं में भी गद्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण देखने को मिलते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-१८८५ ई०)—

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी-गद्य के वास्तविक जन्मदाता हैं। उनके कार्य्य-क्षेत्र में आते ही साहित्य और भाषा दोनों पर उनका प्रभाव पड़ा। साहित्य में नये-नये विषयों पर रचनाएँ होने लगीं। उन्होंने इतिहास, जीवनी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि अनेक विषयों पर रचनाएँ की हैं। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता सर्व-विदित है। उन्होंने भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया है। विषय तथा भाव के अनुसार ही उनकी भाषा की शैली में परिवर्तन स्वभावतः होता गया है। विविध विषयों पर लिखने के कारण उनकी

आप की विविध शैलियाँ हैं। कहीं गंभीर गवेषणा, तथ्यातथ्य-निरूपण आदि हैं तो कहीं परिहास और व्यंग्य का पुट देखने को मिलता है। जहाँ तक भारतेन्दु के लेखों का सम्बन्ध है, हम निःसंकोच कह सकते हैं कि उनमें व्यंग्यात्मक शैली की प्रधानता है।

बालकृष्ण भट्ट (सन् १८४४-१९१४ ई०)—

बालकृष्ण भट्ट की गणना हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध-लेखकों में की जाती है। उन्होंने हिन्दी-गद्य को एक नवीन शैली दी और विविध-विषयक निबन्ध लिखकर उसकी उन्नति में विशेष योग दिया। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक आदि सब प्रकार के छोटे-छोटे गद्य-प्रबन्ध आपने लिखे हैं। भट्ट जी के निबन्धों में विषय का चुनाव बड़े महत्त्व का होता है। उनकी शैली में व्यक्तित्व की झलक सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इनकी शैली हास्य-विनोद की उमंग में पूरबी कहावतों और मुहावरों की बौछार छोड़ती हुई चलती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी बराबर देखने को मिलता है। शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से भट्ट जी के निबन्धों में हमें साधारणतया तीन शैलियों के दर्शन होते हैं। पहली अलंकृत, दूसरी साधारण जिसमें मुहावरों का अत्यधिक प्रयोग है और तीसरी जिसमें विदेशी शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है।

(१) 'मनुष्य के संबंध में इस अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियम का अनुसरण प्रत्येक देश का साहित्य भी करता है; जिसमें कभी क्रोधपूर्ण भयंकर गर्जन, कभी प्रेम का उच्छ्वास, कभी शोक और परिताप-जनित हृदय-विदारी करुणा-निस्वन, कभी वीरता-गर्व से बाहुबल के दर्प में भरा हुआ सिंहनाद, कभी शक्ति के उन्मेष से चित्त की द्रवता का परिणाम अश्रुपात आदि अनेक प्रकार के प्राकृतिक भावों का उद्गार देखा जाता है।'

(२) 'चंदू के उपदेश का असर बड़े बाबू पर कुछ ऐसा हुआ कि उस दिन से वह सब सोहबत-संगत से मुँह मोड़ अपने काम में लग गया। सवेरे से दोपहर तक कोठी का सब काम देखता-भालता था; और दोपहर के बाद दो बजे से इलाक़ों का सब बंदोबस्त करता था। वसूल और तहसील की एक-एक मद खुद आप जाँचता था। उजड़े आसामियों को दिलासा दे और उनकी यथोचित सहायता कर फिर से बसाता था।'

(३) 'मृतक के लिये लोग हजारों लाखों ख़र्चकर आलीशान रौंजे मक़बरे क़ब्रें संगमर्मर या संगमूसा की बनवा देते हैं, क़ीमती पत्थर माणिक फ़ीरोज़ा से उन्हें आरास्ता करते हैं, पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं, जितनी उसके दोस्त आँसू टपकाकर पहुँचाते हैं ?'

प्रतापनारायण मिश्र (सन् १८५६-१८९४ ई०)

प्रतापनारायण मिश्र ने भी बालकृष्ण भट्ट की तरह उच्च कोटि के निबन्ध लिख कर हिन्दी-गद्य-शैली को एक नवीन रूप दिया। दोनों में छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा भाव प्रकट किये गये हैं। दोनों के निबन्धों की भाषा प्रौढ़ और भाव मार्मिक हैं। दोनों की रचनाओं में अपने-अपने व्यक्तित्व की छाप है इसलिए इन दोनों लेखकों के निबन्धों में हमें निबन्ध का आधुनिक रूप दिखाई देता है। इतना होने पर भी प्रतापनारायण मिश्र की शैली भट्ट जी की शैली से पृथक् है। मिश्र जी की प्रकृति विनोदशील होने के कारण उनकी शैली में विनोद तथा मनोरंजन की मात्रा अधिक पाई जाती है। कहीं-कहीं मिश्र जी ने जान-बूझकर प्रांतीयता का समावेश कर दिया है। उनकी भाषा पर पश्चिमी अवधी का थोड़ा प्रभाव पड़ा है, उन्होंने हास्य-विनोद, देशभक्ति, मातृभाषा-महत्व आदि विषयों को लेकर अनेक निबन्धों की रचना की है। 'धोखा', 'बालक', 'युवावस्था', 'दांत', 'खड़ी बोली का पद्य'

पंचपरमेश्वर' इत्यादि अनेक निवन्ध सुन्दर बन पड़े हैं ।

इन उपरोक्त लेखकों के अतिरिक्त बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास और अंबिकादत्त व्यास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने समय-समय पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में अपने निबन्ध प्रकाशित कराये। इन सब के निबन्धों की भाषा गठी हुई है और भावों को बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया है। इन लेखकों के द्वारा गद्य के अन्य अंगों की नींव दृढ़ हुई ।

इस प्रकार भारतेन्दु-युग के निबन्ध-साहित्य के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि इस युग में निबन्ध-लेखकों की संख्या नहीं बढ़ सकी, तथापि जिन लेखकों द्वारा यह कार्य्य आरम्भ किया गया, वह कोई कम महत्त्वपूर्ण न था। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ये दो लेखक ही इतने प्रतिभा-सम्पन्न और उच्चकोटि के निबन्ध-लेखक हुए कि जिनकी तुलना हम आज भी अपने वर्त्तमान निबन्ध-लेखकों से कर सकते हैं।

(२) सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ—

पत्र-पत्रिकाओं का चलन भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की स्थापना के अनन्तर और भारतेन्दु के पूर्व हो चुका था। भारतेन्दु ने कार्य्य-क्षेत्र में आते ही अपना ध्यान पत्र-पत्रिकाओं की ओर आकर्षित किया। अब तक के पत्र-साहित्य द्वारा हिंदी की कोई उन्नति नहीं हो पाई थी, हाँ पत्र-पत्रिकाओं का चलन अवश्य हो गया था। भारतेन्दु ने इनके द्वारा हिन्दी को नव-जीवन प्रदान किया। उन्होंने 'कविवचन सुधा' नामक मासिक-पत्र, जो प्रकाशित किया, उसकी भाषा बड़ी ही परिष्कृत होती थी। देखिए :—

'आजकल राजा चरखारी काशी में पधारे हैं और चतुर्दिक यात्रा करते फिरते हैं। इसी हेतु एक दिन गोपाल मन्दिर में भी गये थे और चाहा कि अस्त्र बाँधे भीतर चले जायं। निःसन्देह वहाँ के द्वारपालों ने रोका क्योंकि वह रणभूमि नहीं है कि लोग वहाँ अस्त्र बाँधकर जायं और युद्ध करें और न वह किसी राजा का दुर्ग है कि वहाँ अस्त्र रख देने से कुछ अप्रतिष्ठा हो जाती।'

भारतेन्दु ने एक दूसरा मासिक-पत्र 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के नाम से प्रकाशित करना आरम्भ किया। इसमें भारतेन्दु-मंडल के लेखकों की रचनाओं के साथ अंग्रेज़ी के लेख भी छपते थे। इसी मैगज़ीन का प्रकाशन 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के नाम से होने लगा। वस्तुतः ये दोनों पत्रिकाएँ एक ही हैं, केवल पहिले नाम का अंगरेज़ीपन दूर कर उसे हिन्दी-रूप दिया गया है। इस पत्रिका में गद्य-पद्यमय काव्य, पुरवृत्त, नाटक, कला, इतिहास, परिहास, समालोचना आदि विषयों पर बराबर लेख निकलते थे।

सन् १८७४ ई० में भारतेन्दु ने स्त्री-शिक्षोपयोगी 'बाला-बोधिनी' नामक एक मासिक-पत्रिका निकालना आरम्भ किया। इसमें स्त्रियोपयोगी लेखों का प्रकाशन होता था।

भारतेन्दु के उद्योग से बाबू बालेश्वर प्रसाद बी०ए० ने काशी से 'काशी' साप्ताहिक पत्रिका निकालना आरम्भ किया। इस की शैली वस्तुतः भारतेन्दु की शैली ही है। इसके अतिरिक्त उन्होंने आर्यमित्र, हिन्दीप्रदीप, भारतमित्र, मित्रविलास आदि कई पत्रों को प्रोत्साहन देकर प्रकाशित कराया था और इनमें लेख लिख कर हिन्दी-गद्य के विकास में एक प्रशंसनीय हाथ बटाया था।

एक ओर भारतेंदु के उद्योग और प्रोत्साहन से तथा दूसरी ओर विविध आंदोलनों के परिणाम-स्वरूप हिन्दी-गद्य में पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ आ गई। अधिकांश लेखक अपने साथ एक-एक पत्र लेकर आये। भारतेंदु के जीवन-काल में जिन-जिन

पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ था, उनके नाम इस प्रकार हैं:—अलमोड़ा अख़बार, हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश, बिहार-बंधु, सदादर्श, काशी-पत्रिका, भारत-बन्धु, भारत-मित्र, मित्रविलास, हिंदी-प्रदीप, आर्य-दर्पण, सार-सुधा-निधि, उचितवक्ता, सज्जन-कीर्ति-सुधाकर, भारत-सुदशा-प्रवर्त्तक, आनन्द-कादम्बिनी, देश-हितैषी, दिनकर-प्रकाश, धर्म-दिवाकर, प्रयाग-समाचार, ब्राह्मण, शुभचिंतक, सदाचार-मार्तण्ड, हिन्दोस्थान, पीयूष-प्रवाह, भारत-जीवन, भारतेंदु, कविकुलकुंज-दिवाकर, वेंकटेश्वर-समाचार। इन पत्रों के अतिरिक्त कुछ धार्मिक और जातीय पत्रिकाएँ भी निकली थीं। इन समस्त पत्रों में हिंदोस्थान, भारतोदय और समाचार-सुधावर्षण के अतिरिक्त सभी पत्र साप्ताहिक या पाक्षिक या मासिक थे।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो 'हिन्दी-प्रदीप', 'आनन्द-कादम्बिनी', 'ब्राह्मण', 'पीयूष-प्रवाह' आदि पत्र विशेष महत्त्व के हैं। 'आनन्द कादम्बिनी' के सम्पादक वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने तो अपने पत्र में साधारण से साधारण सूचना तक में संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया था। गद्य के अन्य अंगों की-सी वही काव्योचित भाषा! वे ही लम्बे-लम्बे अनुप्रासपूर्ण वाक्य देखिए—

'इस बार कांग्रेस का अधिवेशन भारत-राजधानी कलकत्ते में होगा, इसी के सिद्धान्त और कार्यप्रणाली के परिवर्तन के विषय में बंगाल में घोर मतभेद उपस्थित हुआ है। क्योंकि बाईस वर्ष पर्य्यन्त देश शासन आदि के सुधार के विषय में बारम्बार भारत साम्राज्य से जो प्रार्थनाएँ की गई उसका कुछ फल होते न देखकर प्रजा का अधिकांश दल हताश होकर अब "अपने ही मरने में स्वर्ग देखने" का स्वप्न देख रहा है।'

इस प्रकार हम देखेंगे कि भारतेंदु-युग की पत्र-पत्रिकाओं

का उद्देश्य लोक-कल्याण के साथ ही साथ हिन्दी-सेवा करना था। उनका सीधा सम्बन्ध साहित्य से था। सम्पादन-कला से ये लेखक सर्वथा अनभिज्ञ थे। इससे यद्यपि समाचार-पत्रों के कला-रूप का विकास नहीं हो पाया, परन्तु हिन्दी-गद्य को विशेष सहायता मिली। गद्य-लेखन-शैली जिसका इस युग के पूर्व परिमार्जन नहीं हो सका था, उसका परिमार्जन होने लगा। भाषा को जो फलता हुआ, मधुर और स्वच्छ रूप मिलने लगा, उसका श्रेय इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं को है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(३) जीवन-चरित्र—

भारतेंदु-युग के पूर्व जिन-जिन लेखकों ने जीवनी-साहित्य में काम किया उनमें से हम किसी लेखक को मौलिक नहीं कह सकते। आधुनिक ढंग पर जीवनियाँ लिखने का कार्य्य हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम भारतेंदु-युग से आरम्भ होता है। भारतेंदु ने जब अपनी लेखनी गद्य के सभी अंगों पर चलाई तो गद्य के इस अंग की कमी उन्हें विशेष रूप से अखरने लगी। 'चरितावली' इस अंग के अभाव की पूर्ति का प्रथम प्रयास है। 'चरितावली' भारतेंदु की सब से बड़ी रचना है। इसमें उन्होंने जिन-जिन महापुरुषों के जीवन-चरित्र लिखे हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदेवाचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नेपोलियन, जंग बहादुर, द्वारिकानाथ जज, राजाराम शास्त्री, लार्ड-मेयो, लार्ड लारेंस और जार अलेग्जैंडर द्वितीय। अन्त में कुछ भारतीय और पाश्चात्य महापुरुषों की कुण्डलियाँ भी दी गई हैं। ये सब जीवन-चरित्र बड़ी खोज और छान-बीन के बाद लिखे गए हैं और उनमें दोनों देशों के महापुरुषों की जीवन-

सामग्री बड़े कौशल के साथ सजाई गई है। इन जीवनियों की भाषा का जहाँ तक संबन्ध है, उसमें प्रधानतया दो शैलियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। पहले प्रकार की शैली उस स्थान पर है जहाँ पर उन्होंने प्राचीन-काल का पुरातत्त्व-विषयक इतिहास गवेषणा तथा मननपूर्वक लिखा है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है और वाक्यावली भी विशद हो गई है। दूसरे प्रकार की शैली उस स्थान पर है जहाँ मुसलमानी इतिहास की साधारण बातें लिखी गई हैं। ऐसे स्थानों पर न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है और न विशद वाक्यावली ही पाई जाती है। इसमें उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हुआ है। भारतेंदु की वास्तविक शैली भी यही है।

भारतेंदु से आगे चलकर कार्तिकप्रसाद खत्री ने तीन जीवनियाँ लिखीं। सन् १८६३ में, 'मीराबाई का जीवन-चरित्र' सन् १७६४ ई० में 'महाराणा छत्रपति शिवाजी का जीवन-चरित्र' और सन् १८६७ ई० में 'अहिल्याबाई का जीवन-चरित'। इसी प्रकार राधाकृष्णदास ने भी तीन जीवनियाँ लिखकर इस साहित्य की वृद्धि की। सन् १८६४ ई० में 'श्री नागरीदासजी का जीवन-चरित' सन् १८६५ ई० में 'कविवर विहारीलाल' और सन् १६०० ई० में 'सूरदास का जीवन-चरित'। इनके अनंतर गोकुलनाथ शर्मा ने 'श्री देवीसहाय चरित' और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने पोपकवि का जीवन-चरित्र' लिखकर जीवनी-साहित्य की रुचि का परिचय दिया। मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़ ने भी अनेक जीवनियाँ लिखीं जिनमें 'पृथ्वीराज कछवाहा' 'राजा भीम', 'रतनसिंह', 'हिंदूपति महाराणा उदयसिंह', आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन जीवन-चरित्रों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें लेखकों की दृष्टि ऐति-

का उद्देश्य लोक-कल्याण के साथ ही साथ हिन्दी-सेवा करना था। उनका सीधा सम्बन्ध साहित्य से था। सम्पादन-कला से ये लेखक सर्वथा अनभिज्ञ थे। इससे यद्यपि समाचार-पत्रों के कला-रूप का विकास नहीं हो पाया, परन्तु हिन्दी-गद्य को विशेष सहायता मिली। गद्य-लेखन-शैली जिसका इस युग के पूर्व परिमार्जन नहीं हो सका था, उसका परिमार्जन होने लगा। भाषा को जो फलता हुआ, मधुर और स्वच्छ रूप मिलने लगा, उसका श्रेय इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं को है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(२) जीवन-चरित्र—

भारतेंदु-युग के पूर्व जिन-जिन लेखकों ने जीवनी-साहित्य में काम किया उनमें से हम किसी लेखक को मौलिक नहीं कह सकते। आधुनिक ढंग पर जीवनियाँ लिखने का कार्य्य हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम भारतेंदु-युग से आरम्भ होता है। भारतेंदु ने जब अपनी लेखनी गद्य के सभी अंगों पर चलाई तो गद्य के इस अंग की कमी उन्हें विशेष रूप से अखरने लगी। 'चरितावली' इस अंग के अभाव की पूर्ति का प्रथम प्रयास है। 'चरितावली' भारतेंदु की सब से बड़ी रचना है। इसमें उन्होंने जिन-जिन महापुरुषों के जीवन-चरित्र लिखे हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदेवाचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नेपोलियन, जंग बहादुर, द्वारिकानाथ जज, राजाराम शास्त्री, लार्ड-मेयो, लार्ड लारेंस और जार अलेग्जैंडर द्वितीय। अन्त में कुछ भारतीय और पाश्चात्य महापुरुषों की कुण्डलियाँ भी दी गई हैं। ये सब जीवन-चरित्र बड़ी खोज और छान-बीन के बाद लिखे गए हैं और उनमें दोनों देशों के महापुरुषों की जीवन-

सामग्री बड़े कौशल के साथ सजाई गई है। इन जीवनियों की भाषा का जहाँ तक संबन्ध है, उसमें प्रधानतया दो शैलियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। पहले प्रकार की शैली उस स्थान पर है जहाँ पर उन्होंने प्राचीन-काल का पुरातत्त्व-विषयक इतिहास गवेषणा तथा मननपूर्वक लिखा है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है और वाक्यावली भी विशद हो गई है। दूसरे प्रकार की शैली उस स्थान पर है जहाँ मुसलमानी इतिहास की साधारण बातें लिखी गई हैं। ऐसे स्थानों पर न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है और न विशद वाक्यावली ही पाई जाती है। इसमें उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हुआ है। भारतेंदु की वास्तविक शैली भी यही है।

भारतेंदु से आगे चलकर कार्तिकप्रसाद खत्री ने तीन जीवनियाँ लिखीं। सन् १८९३ में, 'मीराबाई का जीवन-चरित्र' सन् १७९४ ई० में 'महाराणा छत्रपति शिवाजी का जीवन-चरित्र' और सन् १८९७ ई० में 'अहिल्याबाई का जीवन-चरित'। इसी प्रकार राधाकृष्णदास ने भी तीन जीवनियाँ लिखकर इस साहित्य की वृद्धि की। सन् १८९४ ई० में 'श्री नागरीदासजी का जीवन-चरित' सन् १८९५ ई० में 'कविवर बिहारीलाल' और सन् १९०० ई० में 'सूरदास का जीवन-चरित'। इनके अनंतर गोकुलनाथ शर्मा ने 'श्री देवीसहाय चरित' और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने पोपकवि का जीवन-चरित्र' लिखकर जीवनी-साहित्य की रुचि का परिचय दिया। मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़ ने भी अनेक जीवनियाँ लिखीं जिनमें 'पृथ्वीराज कछवाहा' 'राजा भीम', 'रतनसिंह', 'हिंदूपति महाराणा उदयसिंह', आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन जीवन-चरित्रों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें लेखकों की दृष्टि ऐति-

हासिक तथ्यों की ओर अधिक गई हैं, किंवदन्तियों की ओर नहीं। भारतेंदु, राधाकृष्णदास और मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ द्वारा लिखी जीवनियाँ आज के अधिक समीप हैं। उनमें विषय का प्रतिपादन वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। आदर्श से आदर्श जीवन-चरित को भी साधारण रूप में देखा गया है। इन लेखकों में आज की कला के गुण पाये जाते हैं। इनके द्वारा लिखित जीवनियों की शैली बड़ी ही रोचक और आकर्षक है। भाषा सरल, स्वाभाविक और स्वच्छ है।

भारतेंदु-युग का जीवनी-साहित्य अभी तक उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। उसे संकलन रूप में लाने की चेष्टा किसी ने नहीं की। इसलिए जो जीवन-चरित्र ग्रंथों के रूप में हमें उपलब्ध हैं, उन्हीं से सन्तोष कर लेना पड़ता है। इन प्राप्य जीवन-चरित्रों का हिन्दी-गद्य में उच्च स्थान है। आधुनिक जीवन चरित्रों का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु-युग से हुआ, यह हमारे लिए क्या कम सौभाग्य की बात है?

(४) समालोचना—

हिन्दी-साहित्य में समालोचना का सर्वप्रथम आधुनिक रूप सन् १८८२ ई० की 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में दिखाई देता है, जिसमें लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की बड़ी कड़ी आलोचना बालकृष्ण भट्ट ने की थी। भारतेन्दु युग में पुस्तकों की विस्तृत समालोचनाएँ पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी अपनी इस पत्रिका में लिखते रहते थे। इस प्रकार की समालोचनाएँ उस समय में अन्य साहित्यिक पत्रों में भी निकलती रहती थीं। पर समालोचना के इस प्रारंभिक काल में किसी पुस्तक का परिचय देने में ही ये लेखक अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझते थे। किसी ग्रंथकार के गुण अथवा

दोष दिखाने के उद्देश्य से इस समय में कोई समालोचना निकली हो, सो ज्ञात नहीं। इस समय से ही हिन्दी में दोषों को ढूँढने की प्रवृत्ति चल पड़ी और समालोचना के क्षेत्र में लेखकों की वृद्धि होने लगी। इनमें से कुछ तो केवल अपनी विद्वत्ता-प्रदर्शन के उद्देश्य से ही किसी रचना में यों ही जान-बूझ कर दोष दिखाने लग गये थे।

समालोचना-साहित्य की वृद्धि पर विचार करते समय सन् १८९७ ई० में प्रकाशित हम 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' को नहीं भूल सकते। इस पत्रिका में समय-समय पर समालोचना के सम्बन्ध में अनेक लेख प्रकाशित होते रहे, जिससे कवियों और लेखकों को साहित्य-सृजन में काफ़ी सहायता मिली। सन् १८९६ ई० में गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' नामक पुस्तक का रूपान्तर इसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार सन् १८९७ ई० में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और अम्बिकादत्त व्यास ने इस पत्रिका में क्रमशः पद्यात्मक 'समालोचनादर्श' और 'गद्य काव्य मीमांसा' नामक लेख प्रकाशित कराए। आधुनिक समालोचना की दृष्टि से भले ही ये लेख महत्त्वपूर्ण न हों, पर इनमें गंभीरता और समालोचना के पर्याप्त अंकुर विद्यमान हैं। इनके बाद समालोचना-साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

(५) उपन्यास—

कथा-कहानियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। मानव-जाति अनन्त काल से इसके द्वारा मनोरंजन करती चली आ रही है। अब तक के गद्य-साहित्य में ऋग्वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, बौद्ध और जैन साहित्य में इसका सर्वप्रथम आभास मिलता है। मानव-मन की कौतूहलवृत्ति के लिये ही संस्कृत में पंचतंत्र, हितोपदेश, वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुक-सप्तति,

कथासरित्सागर, बृहत्कथा और बृहत्कथामंजरी की सृष्टि हुई थी। प्राचीन और मध्यकाल में गद्य-रचना की अप्रधानता के कारण लोगों की दृष्टि इस ओर नहीं जा सकी। इस समय में कथा-कहानियों के ऐसी संस्कृत से अनूदित, फारसी-उर्दू से उधार माँगी हुई कथा-कहानियों तथा मौलिक गल्पों और तोता-मैना, सारंग, सदावृक्ष, पद्मावत आदि में ही अपनी जिज्ञासा-वृत्ति शांत कर लिया करते थे। निर्माण-काल में आकर इनका सर्व-प्रथम रूप रानी केतकी की कहानी; सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, शकुन्तला, प्रेमसागर, नासिकेतोपाख्यान, गोरा बादल की कथा और राजा भोज का सपना में देखने को मिला। लेकिन यथार्थ में ये समस्त कथाएँ उपन्यास-कला से कोसों दूर हैं। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से ही गद्य-साहित्य की अपूर्व उन्नति के परिणाम-स्वरूप ऐसे उपन्यासों की नींव पड़ी, जिनमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ जीवन के प्रमुख व्यक्तियों को स्थान दिया जाने लगा तथा उनसे सम्बन्धित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा जीवन के किसी सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाने लगा। अस्तु, हरिश्चन्द्र-युग के उपन्यास-साहित्य को सुविधापूर्वक समझने के लिये हम उसे चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—सामाजिक और गार्हस्थ्य, नीति और शिक्षा-सम्बन्धी, तिलिस्मी और जासूसी तथा ऐतिहासिक।

सामाजिक और गार्हस्थ्य सम्बन्धी उपन्यासों का सूत्रपात किशोरीलाल गोस्वामी ने किया। उनके 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम' और 'हृदयहारिणी' नामक उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का चित्रण देखने को मिलता है। गोस्वामी जी का उपन्यासों के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सन् १८६८ ई० में 'उपन्यास' नामक पत्र निकाल कर आपने इस अंग को पुष्ट करने की चेष्टा की। उनके इन उपन्यासों से अन्य लेखकों को

प्रेरणा मिली, जिसके फल-स्वरूप देवीप्रसाद शर्मा और राधाचरण गोस्वामी ने 'विधवा विपत्ति' सन् १८६३ ई० में हनुमन्तसिंह ने 'चन्द्रकला', कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'जया', गोपाल राम गहमरी ने 'नए बाबू', गोकुलनाथ शर्मा ने 'पुष्पवती' और राधाकृष्ण-दास ने 'निस्सहाय हिन्दू' नामक उपन्यासों की सृष्टि की। इन समस्त उपन्यासों का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों से है, यथा गोस्वामी जी के 'त्रिवेणी' में सनातन धर्म का गुणगान किया गया है और उसके साथ ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म की बुराइयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस उपन्यास की मूल प्रेरणा उन्हें ईसाइयों से मिली जो हिन्दू धर्म को निकृष्ट करार देकर अपने धर्म के प्रचार के लिये भाग-दौड़ कर रहे थे।

ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम लिखे गये। इस प्रकार के उपन्यासों का श्रीगणेश भी किशोरीलाल गोस्वामी के 'लवङ्ग-लता' और 'कुसुम कुमारी' नामक उपन्यासों से हुआ। उनकी देखा-देखी बालमुकुन्द गुप्त ने 'कामिनी' लिखा। इन उपन्यासों में एक अद्भुत कल्पना-शक्ति के साथ जीवन का सर्वांगीण चित्र तथा मानव-जीवन की अतिरंजित भावनाओं का चित्रण कालविशेष के वातावरण के साथ भले ही न हो, लेकिन लेखकों के आदर्श-वादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। उनमें कालविशेष की महिलाओं तथा शूरवीरों की वीरता, शौर्य, प्रेम, त्याग आदि भावनाओं का चित्रण किया गया है। यथा 'लवङ्गलता' हिन्दू-समाज की ऐसी वीरांगनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, जिसने मुसलमानों को प्राण देकर अपने स्त्रीत्व, धर्म, गौरव आदि की रक्षा की। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास गोस्वामी जी द्वारा सर्वप्रथम लिखे गए। यह बंगला-शैली का प्रभाव था और बंगला पर स्काट की शैली का।

इस प्रकार विविध-विषयक उपन्यासों का आरम्भ होता गया। नीति और शिक्षा सम्बन्धी उपन्यास लिखने वालों में सर्वश्री बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान और एक सुजान', किशोरीलाल गोस्वामी ने 'सुख शर्वरी', श्री-निवासदास ने 'परीक्षा गुरु', लज्जाराम मेहता ने 'स्वतन्त्र रमा', और 'परतंत्र लक्ष्मी' तथा 'धूर्त रसिकलाल', गोपालराम गहमरी ने 'बड़ा भाई' और 'सास पतोहू' और कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'दीनानाथ' नामक उपन्यास लिखे। इन सभी उपन्यासों से हमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा अवश्य मिलती है, इसलिए इनमें उपदेश की मात्रा अधिक है। कला के सम्बन्ध में लेखकों ने उतना ध्यान नहीं रक्खा। अतः कला की दृष्टि से ये साधारण कोटि के उपन्यास हैं।

तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास इस समय की एक प्रमुख विशेषता है। तिलिस्मी का भाव सर्वप्रथम फ़ारसी में था। अमीर हमज़ा साहब इसे उर्दू में ले गये और अनेक उपन्यास लिखे। सर्वप्रथम देवकीनन्दन खत्री इसे उर्दू से हिन्दी में लाये। उन्होंने इस प्रकार के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्र कान्ता-संतति', 'नरेन्द्र मोहिनी' और 'कुसुम कुमारी', 'वीरेन्द्रवीर' नामक उपन्यास लिखे। खत्री जी का अनुकरण कर देवी प्रसाद शर्मा ने 'सुन्दर सरोजनी' और जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'वसन्त मालती' लिखा। तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास इतने लोक-प्रिय हुए और इनका इतना आधिक्य रहा कि किशोरीलाल गोस्वामी भी इस मोह को नहीं छोड़ सके। उन्होंने भी 'स्वर्गीय कुसुम', 'लवङ्गलता', 'प्रणयिनी परिणय', 'कटे मूढ की दो-दो बातें', आदि में तिलिस्मी का प्रयोग किया है। इन सब उपन्यासों में किसी न किसी प्रकार का जादू, चमत्कार या करामात का काम दिखाया गया है।

हरिश्चन्द्र-युग के उपरोक्त उपन्यासों की भाषा तीन प्रकार की है। प्रथम जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, गोस्वामी जी आदि लेखकों के उपन्यासों की भाषा ऐसी है। लेकिन संस्कृत-शब्दावली होते हुए भी उनमें भाषा का व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है। द्वितीय, जिसमें संस्कृत-शब्दावली का प्रयोग जानबूझ कर हुआ है और भाषा को अलंकृत बनाने के लिए अपनी ओर से विशेष प्रयत्न किया गया है। तृतीय, जिसमें अपेक्षाकृत सरल हिन्दी का प्रयोग किया गया है, जिसे हिन्दी का सामान्य पाठक भी अच्छी तरह समझ सकता है। इन तीनों प्रकार की भाषाओं में अनेक दोष पाये जाते हैं। प्रायः सभी में व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ हैं, वाक्य-विन्यास शिथिल है और ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी तथा बंगला के अशुद्ध मुहावरों का प्रयोग है। यथार्थ में लेखकों की दृष्टि विषय-विविधता की ओर अधिक गई, भाषा की ओर नहीं।

(६) नाटक—

हिन्दी नाट्य-साहित्य में भारतेन्दु का नाम चिर-स्मरणीय है। उन्होंने जो मौलिक नाटक लिखे, वे ये हैं—'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चंद्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति', 'विषस्यविषमौषधम्'। 'प्रेमयोगिनी' और 'सती-प्रताप'—ऐसे मौलिक नाटक हैं, जो अपूर्ण हैं। सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक और प्रेमप्रधान प्रायः सभी प्रकार के नाटक उन्होंने लिखे हैं। भारतेन्दु के इन नाटकों का हिन्दी-भाषा और साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु ने संस्कृत, अंग्रेजी तथा बंग देश के नाटकों का विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन किया था। समय और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी

प्रतिभा, परिश्रम और साहित्यिक अभिरुचि के द्वारा उन्होंने ऐसे नाटक लिखे, जिससे हिन्दी-गद्य का विकास ही नहीं हुआ, वरन् साहित्य एक नवीन भूमि पर खड़ा हो गया। भारतेन्दु के अनंतर श्रीनिवासदास ने 'रणधीर और प्रेममोहिनी', 'तप्तासंवरण' और 'संयोगिता स्वयंवर' नामक नाटक लिखे। इसी प्रकार राधाकृष्णदास ने 'दुखिनी बाला' 'पद्मावती' 'धर्मालाप' और 'महाराणाप्रताप' नामक नाटक लिखे। किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा 'मयङ्कमंजरी' और राव कृष्णदेवशरणसिंह द्वारा 'माधुरी रूपक' लिखा गया। राधाकृष्णदास ने अपने नाटकों को जाति, समाज, धर्म, देश आदि की भलाइयों के लिए लिखा है। शेष नाटक प्रेम-प्रधान हैं, कहीं-कहीं तत्कालीन परिस्थितियों का भी चित्रण किया गया है।

भारतेन्दु युग में प्रहसन लिखने की परम्परा भी चलती रही। सर्वप्रथम वे 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' लिख ही चुके थे, उनका दूसरा प्रहसन 'अंधेर नगरी' नाम से निकला। फिर तो सामाजिक कुरीतियों की मजाक उड़ाने वाले लेखकों की धूम मच गई। वेश्यावृत्ति और नशे के दुष्परिणामों को ध्यान में रखकर बालकृष्ण भट्ट ने 'शिक्षादान' और 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक दो प्रहसन लिखे। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने भी 'रक्षा-बन्धन', 'एक-एक के तीन-तीन', 'स्त्री-चरित्र', वेश्याविलास' आदि प्रहसन लिखे। भारतेन्दु के पश्चात् आपके प्रहसन अधिक लोकप्रिय हुए। इसी प्रकार राधाचरण गोस्वामी ने 'लोग देखें तमाशे', किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट', देवकीनन्दन तिवारी ने 'कलियुगी विवाह प्रहसन' और गोपालराम गहमरी ने 'जैसे को तैसा' आदि प्रहसन लिखकर समाज के विभिन्न अङ्गों की कटु आलोचना की। प्रहसन-लेखकों में तीक्ष्ण व्यंग्य और शिष्ट-हास्य की मात्रा यदि कहीं मिलती है तो वह भारतेन्दु,

देवकीनन्दन त्रिपाठी और राधाचरण गोस्वामी में। अन्य लेखक इस दृष्टि से असफल से रह गये हैं।

इन सब नाटकों द्वारा भारतेन्दु-युग के लेखकों की प्रतिभा तथा भावनाओं पर खूब प्रभाव पड़ा और जनता का ध्यान भारतीय सभ्यता की ओर लगा रहा। भाषा व्याकरण के दोषों से भरी हुई अवश्य है लेकिन उसमें एक चलता हुआ रूप देखने को मिलता है। वाक्यों के अन्वय जटिल और दुर्बोध नहीं हैं। शब्दों के चुनाव में सरलता और सुगमता का ही ध्यान रक्खा गया है। यथार्थ में भारतेन्दु-युग के लेखकों की दृष्टि साहित्य के प्रायः सभी अंगों को पुष्ट करने में लगी हुई थी। उन्होंने नवीन विचार और भाव देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी। भाषा को अलंकृत और मधुर बनाने की ओर उनका ध्यान अपेक्षाकृत कम गया। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में से एक उदाहरण देखिये—

'हाय बेटा! अरे आज मुझे किसने लूट लिया! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई! हाय, अब मैं किसका मुख देख के जीऊँगी! हाय, मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया! हाय, मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला! अरे बेटा! तैं तो मरे पर भी सुन्दर लगता है। हाय रे! अरे बोलता क्यों नहीं! बेटा जल्दी बोल, देख, माँ कबकी पुकार रही है! बच्चा! तू तो एक ही दफे पुकारने में दौड़कर गले से लिपट जाता था, क्यों नहीं बोलता?'

(७) गद्यानुवाद—

भारतेन्दु के पूर्व जितने भी अनुवाद हुए, उन सबकी भाषा सरस और सुन्दर नहीं थी और न मूल भावों की रक्षा ही की जाती थी। सरस और सुन्दर अनुवाद भारतेन्दु से आरम्भ होता है। मधुर भाषा, मूल लेख के प्रायः सभी भाव उनमें देखने को

मिलते हैं। भारतेन्दु-युग में उपन्यास और नाटकों के अनुवाद खूब हुए। उपन्यासों का अनुवाद सर्वप्रथम भारतेन्दु ने किया। भारतेन्दुकृत 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक मराठी उपन्यास का अनुवाद इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास है। फिर तो अंग्रेजी, बंगला, मराठी, संस्कृत उपन्यासों और उर्दू-कथाओं के अनुवाद की बाढ़-सी आ गई। बंगला के अनुवाद ये हैं—भारतेन्दु द्वारा 'राजसिंह', राधाकृष्णदास द्वारा 'स्वर्णलता', गदाधरसिंह द्वारा 'दुर्गेश नन्दिनी' और 'बंगविजेता', गोस्वामी जी द्वारा 'प्रेममयी' और 'लावण्यमयी', राधाचरण गोस्वामी द्वारा 'दीप निर्वाण' और 'विरजा', बालमुकन्द गुप्त द्वारा 'मडेल भगिनी', रामशंकर व्यास द्वारा 'मधुमालती' और 'मधुमती', विजयानन्द त्रिपाठी द्वारा 'सच्चा सपना', प्रतापनारायण मिश्र द्वारा 'युगलाङ्गुरीय' और 'कपाल-कुण्डला', अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा 'कृष्ण-कान्त का दानपत्र' और 'राधारानी', कार्तिकप्रसाद खत्री द्वारा 'कुलटा', 'मधुमालवी', 'दलित कुसुम' आदि। इसी प्रकार गदाधर सिंह ने संस्कृत उपन्यास 'कादम्बरी' का और काशीनाथ शर्मा ने 'चतुर सखी' का अनुवाद किया। अनेक संस्कृत कथा-कहानियों को भी हिन्दी में लाया गया। काशीनाथ खत्री ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया। गदाधरसिंह ने बंगला से अंग्रेजी उपन्यास 'ओथेलो' का हिन्दी रूपान्तर लिखा। कहाँ तक गिनाया जाय, इन अनुवादित उपन्यासों से साहित्य भरने लग गया। साथ ही जो उपन्यास जिस भाषा से अनूदित हुआ, उसकी शैली का प्रभाव भी हमारे उपन्यासों पर पड़ता गया।

उपन्यासों की भाँति नाटकों के अनुवाद भी समानान्तर चलते रहे। भारतेन्दु ने जिन संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया, वे ये हैं—'विद्यासुन्दर', 'पाखण्ड विडम्बन', 'धनञ्जय विजय', 'कर्पूर मञ्जरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'मुद्राराक्षस'। संस्कृत के

अमूल्य नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करने का श्रेय लाला सीताराम को भी है, जिन्होंने 'महावीरचरित', 'उत्तर-राम चरित',. मालती माधव', 'मालविकाग्निमित्र', 'मृच्छकटिक' और 'नागानन्द' आदि अनुवादित किये। इसी प्रकार देवदत्त तिवारी ने 'उत्तर राम चरित', रामेश्वर भट्ट ने 'रत्नावली', बालमुकुन्द गुप्त ने 'रत्नावली' और ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणी संहार नाटक' अनुवाद किये। इन सब लेखकों के अनुवाद सुन्दर हुए हैं। बंगाल में नाटकों की विशेष उन्नति हो गई थी, इसलिए वहाँ के कुछ अच्छे नाटकों को भी हिन्दी में लाया गया। रामकृष्ण वर्मा ने 'पद्मावती', 'वीरनारी' और 'कृष्णा-कुमारी' नाम से अनुवाद किये। मुन्शी उदितनारायण ने भी 'सती नाटक', 'दीप-निर्वाण' और 'अश्रुमती नाटक' प्रकाशित कराये। इन सब अनुवादों की भाषा हिन्दी-उर्दू-मिश्रित है। इनका सबसे जबरदस्त प्रभाव यह पड़ा कि पारसी कम्पनियों पर से लोगों की रुचि जाती रही।

द्विवेदी-युग

(सन् १६००-१६२५ ई०)

भारतेन्दु ने गद्य की भाषा को जो स्थिर रूप दिया था, वह केवल इने-गिने लेखकों तक ही सीमित रहा—सर्वसाधारण में उसका प्रचार न हो सका। इन लेखकों का विषय, शब्द-चयन और दृष्टिकोण सभी संकुचित था। प्रायः सभी लेखक एक निश्चित तद्भवयुक्त शुद्ध हिन्दी के समर्थक थे। ये लोग आपस में बैठ जाते, वाद-विवाद करते और अपनी रचनाएँ अपने वर्ग के लिए ही लिखते-पढ़ते रहते थे। उस समय के गद्य का रूप आजकल की किसी विशेष साहित्य-गोष्ठी के समान था। इस संकीर्ण नीति का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-गद्य एक विशेष वर्ग तक ही रुका हुआ पड़ा रहा। आगे चलकर जब लोगों की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं, तो उन्होंने भाषा को एक सीमित क्षेत्र में से निकाल कर उसे व्यापक रूप देने के लिए विभिन्न आन्दोलन किये। लेकिन इनके सामने भाषा का कोई आदर्श न था, इसलिए प्रायः सब ने अपनी-अपनी इच्छानुकूल नये-नये मार्ग ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि सन् १६०० से सन् १६०८ ई० तक हिन्दी-गद्य केवल अव्यवस्थित ही नहीं रहा, प्रत्युत उसमें अराजकता के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई देने लग गये। इस समय के समस्त लेखकों की दृष्टि एकमात्र बंगला, मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी से अनुवाद करने की ओर लगी रही, अतः मौलिक गद्य की सृष्टि इन आठ वर्षों के भीतर नहीं हो पाई।

सन् १६०६-१६ ई० तक जब महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रयाग की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन अपनी कुशल लेखनी से करना आरंभ किया, तो गद्य की भाषा पुनः व्यवस्थित होने लगी। द्विवेदी जी ने अंग्रेजी के बहुत से निबन्धों का सफल अनुवाद कर लेखकों के सामने गद्य का एक आदर्श रूप उपस्थित किया। द्विवेदी जी एक श्रेष्ठ अनुवादक थे, मौलिक गद्य-लेखक नहीं; लेकिन उनके द्वारा गद्य को जो बल मिला, वह सर्वथा स्तुत्य है। इस प्रकार उन्होंने लेखकों की विविध समस्याओं का हल निकाल कर भाषा को एक स्थिर और व्यवस्थित रूप दिया। 'सरस्वती' के प्रकाशित लेखों के द्वारा व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर किया गया। हिन्दी-गद्य में विराम-चिह्नों तथा अवतरण-प्रणाली का प्रयोग उन्होंने सर्वप्रथम किया। ऐसे शब्दों पर अधिक जोर दिया गया जो प्रायः सभी लोगों की समझ में आ सकते थे। इससे भाषा की व्यापकता बढ़ने लगी और शब्द-भण्डार भी प्रचुर होने लगा। अंग्रेजी, बंगला, मराठी, संस्कृत आदि भाषाओं से अनेक नये-नये शब्द रूपान्तरित होकर हिन्दी में आने लगे। जब भाषा को स्थिर और व्यवस्थित रूप देने का कार्य सुविधापूर्वक सम्पन्न हो गया तो द्विवेदी जी ने गद्य को एक नवीन गद्य-शैली प्रदान की।

सन् १६१७-२५ ई० तक द्विवेदी जी के अथक परिश्रम के फलस्वरूप उत्कृष्ट कोटि का गद्य प्रकाशित होने लगा। विषय की अनेकरूपता और साहित्यिक रूपों की दृष्टि से यह गद्य हिन्दी-साहित्य में वेजोड़ है। प्रेमचन्द ने अपने उत्कृष्ट कलापूर्ण चरित्रप्रधान और भावप्रधान उपन्यास इसी समय लिखे। इसी प्रकार जयशंकरप्रसाद ने नाटकों में चरित्र-चित्रण और गीतों को स्थान देकर उनके कला रूप में अद्भुत योग दिया।

कहानियों का महत्त्व बढ़ने लगा। थोड़े समय के भीतर ही प्रेमचन्द, प्रसाद, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' आदि के द्वारा सुन्दर कहानियों की अवतारणा हुई। पं० रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दरदास जैसे प्रतिभासम्पन्न समालोचक इसी समय में हुए। कहने का अभिप्राय यह है कि इस समय के उपन्यास, नाटक, समालोचनाएँ आदि सब अपनी-अपनी विशेषताएँ लिये हुए हैं।

(१) निबन्ध

द्विवेदी-युग के कथात्मक निबन्धों में हमें तीन प्रकार के निबन्ध दिखाई देते हैं। पहले प्रकार के कथात्मक निबन्ध वे हैं, जिनमें लेखक स्वप्नों की कथा के रूप को लेकर चले हैं। वैसे तो इस प्रकार के निबन्धों का श्रीगणेश भारतेन्दु-युग से ही हो गया था, जैसे राजा शिवप्रसाद द्वारा लिखित 'राजा भोज का सपना', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' आदि, लेकिन ये निबन्ध साहित्य की दृष्टि से बहुत ही निम्नकोटि के थे। द्विवेदी-युग में आकर बहुत से लेखकों ने उत्कृष्ट निबन्ध लिखे, जिनमें केशवप्रसादसिंह का 'आपत्तियों का पहाड़', लल्लीप्रसाद पांडेय का 'कविता का दरबार', कमलाप्रसाद का 'क्या था ?', वेंकटेशनारायण तिवारी का 'एक अशरफ़ी की आत्मकहानी', लक्ष्मीधर वाजपेयी का 'विद्यारण्य' आदि उल्लेखनीय हैं। ये निबन्ध समय-समय पर 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित होते रहे। इन निबन्धों पर पाश्चात्य निबन्ध-साहित्य की छाप है, लेकिन साहित्यिक रूप और शैली की दृष्टि से इनका एक महत्वपूर्ण स्थान है। इन निबन्धों की भाषा सरल है और उनमें एक के बाद एक घटना क्रमबद्धता से रक्खी गई है। साथ ही

लेखकों का झुकाव संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर अधिक है। कमलाप्रसाद के 'क्या था ?' का एक उदाहरण देखिए :—

'मैं कह नहीं सकता, पर अहा ! वह विलक्षण अलौकिक छवि अवश्य ही नंदन-कानन-विहारिणी अप्सराओं की प्रतिमूर्ति थी । सौन्दर्य की आज तक कोई परिभाषा नहीं बनी, उसकी कोई सीमा नहीं उपस्थित हुई, उसकी कोई तुलना नहीं, फिर कैसे कहूँ वह छवि सुन्दर थी ! जो हो, मैं उसे सुन्दर समझता था।'

दूसरे प्रकार के कथात्मक निबन्ध वे हैं, जिनमें निबन्धों को आत्म-चरितों का रूप दिया गया है। गिरिजाकुमार घोष का 'दीपक देव का आत्म-चरित', 'पार्वतीनन्दन' का 'तुम हमारे कौन हो ?", चतुर्भुज औदीच्य का 'कवित्व' आदि इसी श्रेणी के निबन्ध हैं । इस प्रकार के निबन्धों में लेखकों ने चरित्रांकन पर विशेष ध्यान दिया और निबन्ध को प्रथम पुरुष से आरम्भ किया है । साथ ही स्थान-स्थान पर लेखकों ने अपने हृदयगत भावों तथा विचारों का मानवीकरण भी किया है। इन निबन्धों की भाषा शुद्ध है, कहीं-कहीं अत्यन्त प्रचलित उर्दू शब्दों का प्रयोग भी कर दिया गया है। उदाहरण के लिए 'पार्वती-नन्दन' के निबन्ध 'तुम हमारे कौन हो' का यह उदाहरण देखिए :—

'मेरा नाम सूर्य है ! मेरे और भी नाम हैं—दिनकर, दिवाकर, प्रभाकर, रवि, भानु, आदित्य, अंशुमाली वगैरह—पर सरकारी नाम मेरा सूरज है।'

तीसरे प्रकार के कथात्मक निबन्ध वे हैं, जिनमें कहानियों की शैली का अनुकरण किया गया है । रूपकों का आश्रय इस प्रकार के निबन्धों की विशेषता है। जैसे 'राजकुमारी हिमांगिनी', बद्रीदत्त पांडेय का 'महाराज सूरजसिंह और बादलसिंह की लड़ाई', लक्ष्मण गोविंद आठले का 'वर्षा विजय' आदि। इस

प्रकार के निबन्धों की भाषा बड़ी ही कवित्वपूर्ण है। 'राज-कुमारी हिमांगिनी' का यह उदाहरण देखिए :—

'अमरेन्द्र बहादुरसिंह जब हिमांगिनी के प्रेम में दिवाने हुए। उन्होंने उनके पास कई दूतियाँ भी भेजीं। उन्होंने उनको विरह-कथा की कहानियाँ खूब ही नमक मिर्च लगाकर कहीं।'...

वर्णनात्मक निबन्धों में वर्णन की प्रधानता पाई जाती है। वर्णन चाहे किसी वस्तु, स्थान, प्रान्त, दृश्य आदि का क्यों न हो, हम उसे वर्णनात्मक निबन्ध ही कहेंगे। इस श्रेणी के निबन्धों में जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न', कृष्ण बलदेव वर्मा का 'बुन्देलखण्ड पर्यटन', मिश्रबन्धु का 'रूस-जापानी युद्ध', डॉ० पी० श्रीधरानन्द का 'सुमन' आदि मुख्य हैं। इन निबन्धों की भाषा बड़ी ही कवित्वपूर्ण और ओजगुणयुक्त है। उदाहरण के लिए 'रूस-जापानी युद्ध' में मिश्रबन्धु लिखते हैं :—

'अंधकार बराबर होता जाता है और हिमोपल वृष्टि का भी प्रारम्भ हो चलता है। अवश्य ही ऐसे घोरकाल में किसी जलयान का समुद्र में लंगर उठा देने का विचार भी होना असंभव प्रतीत होता है। परन्तु एडमिरल टोगो और अन्य जापानी शूरवीर यदि ऐसे समय में भी भयभीत होने वाले होते तो जापान अपने महाप्रबल शत्रु रूस से कदाचित् सामना करने का साहस ही न करता।'

द्विवेदी-युग में वर्णनात्मक निबन्ध बहुत थोड़े लिखे गये, लेकिन चिन्तनात्मक निबन्धों की तो भीड़ लग गई। इस प्रकार के निबन्धों में लेखकों की दृष्टि चिन्तन की ओर अधिक गई, वे खूब सोच-विचार कर, विषय की तह में पहुँच कर निबन्ध लिखने लगे। इन चिन्तनात्मक निबन्धों में भी तरह-तरह के निबन्ध हैं। जो लेखक गम्भीर विचारों की व्यंजना करने लगे, उनके निबन्ध विचारात्मक कहलाये। जिन लेखकों ने रस और भावों पर अधिक ध्यान दिया, उनके निबन्ध भावात्मक निबन्धों

के नाम से पुकारे जाने लगे। और इसी प्रकार जिन निबन्धों में भावना और विचार अर्थात् हृदय और बुद्धि दोनों का मेल देखने को मिला वे उभयात्मक निबन्ध कहे जाने लगे।

द्विवेदी जी ने कई महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे; जैसे 'आकाश की निराधार स्थिति', 'एक योगी की साप्ताहिक समाधि', 'दिव्य दृष्टि', 'अन्ध-लिपि', 'अद्भुत इन्द्रजाल'। द्विवेदी जी के ये निबन्ध विचारात्मक हैं, जिनमें विचार सीधे-सादे और स्पष्ट शब्दों में अंकित किये गये हैं। मौलिक निबन्धकार की दृष्टि से यद्यपि द्विवेदी जी का स्थान ऊँचा नहीं है, परन्तु एक ऐसे समय में जबकि हिन्दी-गद्य की स्थिति बड़ी डाँवाडोल हो रही थी और लेखकों के सामने शैली का कोई आदर्श नहीं था, उन्होंने हिंदी-गद्य को एक नवीन शैली दी। इस दृष्टि से वे एक सर्वश्रेष्ठ प्रथम शैलीकार हैं। उन्होंने साहित्यिक गद्य में कहानी कहने की शैली को अपनाया। द्विवेदी जी के विचार से एक लेखक की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह कठिन से कठिन विषय को सरल से सरल रूप में हमारे सामने रख सके, जिससे सामान्य पाठक की समझ में वह विषय आ जाय। द्विवेदी जी की सफलता की कुञ्जी यही गद्य-शैली है। उन्होंने जिस विषय को उठाया, उसका सरलतापूर्वक निर्वाह किया। सीधे और सरल शब्दों द्वारा वे कहानी सुनाते जाते हैं, पाठक की दृष्टि उनके विचारों पर से हटती ही नहीं। देखिए :—

'उस समय तो उसकी कदर न हुई। पर जब वह मर गया और उसके काव्य का महत्त्व लोगों ने समझा, तब एक ही साथ कितनी ही रियासतें उसकी जन्मभूमि होने का दावा करने लगीं। प्रमाण माँगा गया तो सभी ने उत्तर दिया—'क्या तुम नहीं जानते, होमर ने इसी रियासत में अपनी कविता गाई थी?' तब तो उसे किसी ने न अपनाया। बेचारा होमर माँगता-खाता ही मर गया।'

गम्भीर विषयों पर लिखते समय द्विवेदी जी की भाषा तत्समता की ओर अधिक झुकी हुई रहती है। ऐसे विषयों पर भी उनकी भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों ही का प्रयोग देखने को मिलता है।

द्विवेदी जी में कहीं-कहीं व्यंग्य और हास्य भी देखने को मिलता है। उनकी व्यंग्यात्मक शैली की भाषा भी व्यावहारिक है। अल्प से अल्प ज्ञान रखने वाला पाठक भी उसे अच्छी तरह समझ सकता है।

पंडित माधवप्रसाद मिश्र ने होली, श्रीपंचमी, रामलीला, व्यास-पूजा, यात्रा, राजनीति, तीर्थ-यात्रा, हिन्दू पर्वों और त्यौहारों पर अनेक निबन्ध लिखे। मिश्रजी जोशीले लेखक थे। जोश में आने पर आप इनसे जो चाहे लिखा लीजिये। लोक-सामान्य स्थायी विषयों पर आपके दो निबन्ध 'धृति' और 'क्षमा' सुन्दर बन पड़े हैं। मिश्र जी के अधिकांश निबन्ध भावात्मक हैं और सर्वत्र धाराशैली का अनुशीलन किया गया है। भाषा गंभीर और शान्त है। विषय-प्रतिपादन में समुचित पदावली का प्रयोग इनकी प्रमुख विशेषता है। भावों के उपयुक्त ही भाषा का प्रयोग देखने को मिलता है। मिश्रजी ने उर्दू शब्दों से दूर रहने का प्रयत्न किया है और निबन्धों में नाटकों की सम्भाषण-प्रणाली का अनुशीलन कर उसमें चमत्कार और सजीवता भर दी है। लेकिन खेद का विषय है कि मिश्रजी अधिक दिनों तक निबन्ध-रचना नहीं कर सके। उनके निबन्ध का एक उदाहरण देखिए :—

'यह वही स्थान है, जहाँ सर्वप्रथम कविता का जन्म हुआ था, यहीं हिन्दुओं के, नहीं नहीं—संपूर्ण जगत के परमोत्तम काव्य रामायण की उत्पत्ति हुई थी। यह वही स्थल है, जहाँ एक दिन महर्षि मनु ने आर्यावर्त्त की पवित्र सीमा निर्धारित की थी। इसी स्थल पर रोती हुई

अन्तःसत्वा पतिप्राणा जनकनन्दिनी को दासरथी की आज्ञा से लक्ष्मण छोड़कर गये थे। यहीं के वृक्ष एक दिन लौकुश के समान जनक-दुलारी के द्वारा पालित और परिवर्द्धित हुए थे।'

बाबू गोपालराम गहमरी यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं में लेख और निबन्ध भी दिया करते थे। इनके निबन्धों की भाषा बड़ी ही चंचल, चटपटी और मनोरंजक है। निबन्ध प्रायः भावात्मक हैं। 'ऋद्धि और सिद्धि' नामक निबन्ध के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है :—

'बरहे पर चलने वाला नट हाथ में बाँस लिए हुए बरहे पर दौड़ते समय 'हाय पैसा, हाय पैसा' करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्य दृष्टि से देखता हूँ कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर 'हाय पैसा, हाय पैसा' करती हुई सूर्य्य की परिक्रमा कर रही है।'

इस समय के लेखकों में बाबू बालमुकुन्द गुप्त का नाम भी आदर के साथ लिया जा सकता है, जिनका एक संग्रह 'गुप्त-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। कुछ प्रबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें 'शिवशम्भु का चिट्ठा' विशेष प्रसिद्ध है। इन सबमें आपने सामयिक परिस्थितियों की व्यंजना मनोरंजक ढंग से की है। निबन्ध प्रायः उभयात्मक हैं। उर्दू से हिन्दी में आने के कारण गुप्त जी की भाषा चलती हुई, सजीव और विनोदपूर्ण है। साधारण प्रचलित उर्दू शब्दों को लेकर उन्हें संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम शब्दों के साथ मिलाकर गुप्त जी भाषा को एक सुन्दर और स्वाभाविक रूप देना पूर्णतया जानते थे। भाषा की चुलबुलाहट के साथ उनके निबन्धों में परिहास का पुट भी बराबर रहता है। यह परिहास कभी अश्लील नहीं होने पाता। उनकी भाषा में मुहावरों का सुन्दर और उपयुक्त प्रयोग भी देखने को मिलता है। वाक्य छोटे-छोटे हैं और विचारों का

स्पष्टीकरण बड़े ही सरल ढंग से हुआ है। सुन्दर चित्रों को खड़ा करने में गुप्त जी विशेष प्रवीण हैं। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' से एक उदाहरण देखिए :—

'शर्मा जी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ़ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें उतर रही हैं। तबीअत भुरभुरा उठी। इधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़ धड़धड़ होने लगा। देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई, बम भोला कह शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु के बरामदे के छत पर बूंदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।'

शैली की दृष्टि से महावीरप्रसाद द्विवेदी से ठीक विपरीत पंडित गोविन्दनारायण मिश्र हैं। आपके निबन्ध सामयिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये हैं। 'कवि और चित्रकार' आपकी एक अपूर्ण पुस्तिका है, जो भाषा के शब्दाडंबर, अलंकार और वर्णन-नैपुण्य से भरी हुई है। लेखक भाव की अपेक्षा भाषा को अधिक महत्व प्रदान करता है और उसे अनुप्रास और यमक आदि अलंकार रूपी आभूषणों से अपने निबन्ध को सज्जित करता है। भाषा को कला के रूप में ग्रहण करनेवाले मिश्रजी थोड़े से शब्दों से स्पष्ट की जानेवाली बात को घुमा फिराकर अलंकृत भाषा में वर्णन करने लग जाते हैं। उच्चकोटि के विषयों पर लिखते समय तो भाषा अलंकृत होती ही है, पर साधारण से साधारण विषयों पर लेखनी चलाते हुए

भी वे इसी नियम का पालन करते हैं। शब्दावली संस्कृत और ब्रजभाषा काव्य दोनों की पाई जाती है। 'कवि और चित्रकार' का यह उदाहरण देखिए :—

'सहज सुन्दर मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभाव से सबका चितचोर सुचारु-सजीव-चित्र-रचना-चतुर-चितेरा, और जब देखो तब ही अभिनव सब नव-रस-रसीली नित नव नव भाव बरस रसीली, अनूप-रूप सरूप-गरबीली, सुजन-जन-मोहन-मन्त्र की कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलंकार-सिंगार-साज-सजीली छबीली कविता-कल्पना-कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस अग-जग-मोहिनी, बला श्री सबला, सुभाव-सुन्दरी, अति सुकोमला, अबला की नवेली, अलबेली, अनोखी छवि को आँखों के आगे परतच्छ खड़ी सी दरसाकर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनों को लुभाना, तरसाना, हरसाना और रिझाना ही है।'

द्विवेदी युग के लेखकों में बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने उच्च-कोटि के अनुभूतिमय लेखों की सृष्टि की। आपके निबन्ध भावात्मक हैं, जिनमें सजीवता और सत्यता दोनों का पर्याप्त-मात्रा में सामञ्जस्य दिखाई देता है। भाषा में काव्य की सी मनोहरता आ गई है। शब्द शुद्ध संस्कृत तत्सम हैं। इनके निबन्धों की भाषा पर बंगला के शब्दों और पदावली का प्रभाव पड़ा है। 'श्मशान' नामक निबन्ध में वे लिखते हैं :—

'यह संसार एक महा श्मशान है। जो चिताग्नि यहाँ धधक रही है, उसमें जो न जले, ऐसी चीज ही दुनिया में नहीं है। जड़ प्रकृति किसी का मुंह नहीं देखती। जो सामने आता है, उसी को जलाती हुई, पहिले की तरह धधकती हुई, हंसती और किलकारती हुई चली जाती है। यह जो नक्षत्रों का समूह अल्पान्धकार में झिलमिला रहा है, वह इस विश्वव्यापी महावह्नि की चिनगारियाँ हैं। इस संसार में अग्नि कहाँ नहीं है? निर्मल चंद्रिका में, प्रफुल्ल मल्लिका में, कोकिल की

काकली में, कुसुम के सौरभ में, मृदुल पवन में, पक्षियों के कूजन में, रमणी के मुखड़े में, पुरुष के हृदय में—कहाँ आग नहीं धधक रही है! किस आग में आदमी नहीं जलता ?'

भावात्मक निबन्धों में पंडित पद्मसिंह शर्मा का विशेष महत्त्व है। उन्होंने पंडित गणपति शर्मा की मृत्यु पर जो निबन्ध लिखा, उसमें अपना हृदय निकाल कर रख दिया है। ऐसा मालूम पड़ता है मानो लेखक का सब कुछ लुट गया है और वह अपनी पीड़ा को नहीं सम्हाल सकता। लेखक की भावना का स्रोत देखिए:—

'हा, पंडित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गए। हाय! हाय! क्या हो गया! यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक जैसे सिर पर टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके शोकानल की ज्वालायें प्राण-पखेरू के पंख जलाए डालती हैं ? हा! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय-मन्दिर सूना कर दिया ?'

द्विवेदी-युग के निबन्ध-लेखकों में बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम भी सगर्व लिया जा सकता है। वे एक ऐसी गद्य-शैली के जन्मदाता हैं, जिसका अनुकरण उस काल के बहुत से लेखकों ने किया। श्यामसुन्दरदास जी ने संस्कृत पदावली से परिपूर्ण भाषा को स्वीकार किया और यह बात सिद्ध कर दी कि कठिन से कठिन और नवीन से नवीन विचार-परम्परा को इसी भाषा में अभिव्यक्त किया जा सकता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को लिये हुए भी बाबू जी व्यावहारिक हैं, यह उनकी एक विशेषता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग तद्भव रूप में किया है। आपके निबन्ध अधिकांश में विचारात्मक हैं और इनमें कहीं-कहीं पुनरावृत्ति का दोष भी पाया जाता है, लेकिन विषय को स्पष्ट और बोधगम्य बनाने के लिए

किया गया है। समीकृत और मिश्र दोनों प्रकार के वाक्य बाबूजी सफलतापूर्वक लिख सकते हैं। यद्यपि मुहावरों का प्रयोग भाषा में नहीं हुआ है, तथापि भाषा बिलकुल साहित्यिक है। बाबू जी की शैली में एक विशेषता यह भी है कि वे एक भाषण देने वाले व्यक्ति के समान सीधी और सरल भाषा में अपने विचार प्रकट करते चलते हैं। कठिन विषयों पर लिखते समय आपकी भाषा सरस और सरल विषयों पर लिखते समय आपकी भाषा कठिन होती है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि सरल विषय से पाठक परिचित होता ही है, अतः उसे सरल रूप में अंकित करने से क्या लाभ? हाँ, कठिन विषय पाठकों की आसानी के लिये सरल बना देना चाहिये। जो कार्य हिन्दी के निर्माण और स्थिरीकरण के हितार्थ द्विवेदी जी ने किया, उसके प्रचार और परिवर्धन का श्रेय बाबू जी को ही है। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

'भारत की सस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव-वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ से लम्बे-लम्बे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर सन्ध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीप-वर्तिनी लताओं की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशाल-काय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौन्दर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन

ही मिलेगा।'

शैली की दृष्टि से चन्द्रधर शर्म्मा गुलेरी का नाम भी उल्लेख-नीय है। बाबू श्यामसुन्दरदास की तरह भाषा को चमत्कारपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति इनमें भी नहीं है, लेकिन जहाँ बाबू साहब संस्कृत के तत्सम रूपों की ओर अधिक ध्यान देते हैं, वहाँ गुलेरी जी एक उच्च-कोटि के पण्डित होते हुए भी सामान्य भाषा को लेकर लिखने में ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझते हैं। उनकी शैली में वार्तालाप का सा आनन्द प्राप्त होता है। भाषा सरल, स्पष्ट और स्वाभाविक है, उसमें उर्दू, अंग्रेजी आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। मुहावरों के प्रयोग ने तो उनकी भाषा को और भी व्यावहारिक बना दिया है। गुलेरी जी की लेखन-शैली बड़ी ही अनूठी है। इनके जैसा गम्भीर और पांडित्यपूर्ण हास्य अब तक के लेखकों में देखने को नहीं मिलता। अत्यन्त गूढ़ शास्त्रीय विषयों पर भी लिखते समय आप हास्य और विनोद के फव्वारे छोड़ते चलते हैं। 'कछुआ धर्म', 'मारेसी मोहि कुठाँव' और 'संगीत' आदि निबन्धों के पढ़ने से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की कहानी कहने की शैली के विप-रीत पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने एक नितान्त गम्भीर शैली का अनुकरण किया। द्विवेदी-युग के सबसे गम्भीर विचारशील लेखक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल हैं। उनके जैसा मौलिक लेखक हिन्दी-संसार में कोई नहीं हुआ। इनकी शैली व्याख्यात्मक है। भाषा और विचारों की विधान-पद्धति अत्यन्त सरल है। सच्चे निबन्ध की प्रायः समस्त विशेषताएँ उनमें पाई जाती हैं। निबन्ध में संघटित विचारों की अभिव्यक्ति, व्यक्तित्व की निहत्ति, संयत, परिष्कृत और प्रौढ़ भाषा—प्रायः सभी गुणों के दर्शन होते हैं। अंग्रेजी के निबंधों की भाँति उनमें एक नूतन आत्माभिव्यक्ति

कुंजों का ही दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्म के खुले हुए पट पर, खेत और मैदान; शिशिर की पत्र-विहीन नंगी वृक्षावली और झाड़-बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नहीं करते, उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे केवल अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढते हैं। उनमें उस 'सत्व' की कमी है, जो सत्ता मात्र के साथ एकीकरण की अनुभूत द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व क आभास देती है।'

द्विवेदी-युग के दो लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने लिखा तो बहुत कम है, लेकिन जो कुछ लिखा है, निबन्ध की दृष्टि से उनका महत्त्व बहुत अधिक है। अध्यापक पूर्णसिंह के 'आचरण की सभ्यता', 'नयनों की गंगा (कन्यादान)', 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता तथा पवित्रता' आदि ने निबन्ध-साहित्य को धनी बना दिया। हिन्दी-संसार ने इन निबन्धों को पढ़कर उनकी लेखन-शैली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। पूर्णसिंह के इन निबंधों ने गद्य को विचारों और भावों की एक अनूठी शैली प्रदान की। भाषा की ऐसी नवीन गति-विधि उनके पूर्व किसी लेखक में ढूँढने से भी नहीं मिलती। सभी निबन्धों की भाषा अत्यन्त सुन्दर और प्रौढ़ है। आपके निबन्ध गद्य-काव्य की विशेषताओं से अलंकृत हैं। पूर्णसिंह जी अपने विषय को मूर्तिमत्ता के साथ प्रतिपादित करने की एक विशेष क्षमता रखते हैं। इनकी कला प्रयत्न में नहीं, स्वाभाविकता में है, इस लिए कहीं भी किसी प्रकार की कृत्रिमता अथवा बनावटीपन का नाम-निशान तक नहीं है। विषय के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों पक्षों के चित्र सजीव और स्पष्ट होते हैं। उनकी लेखनी में हमें आधुनिकतम शैली के दर्शन होते हैं। एक साधारण वाक्य को लिखकर उसी की जोड़-तोड़ के अनेक वाक्य लिखकर भाषा को आकर्षक तथा चमत्कार-पूर्ण बना देना उन्हें खूब आता है। भाषा और

भाव की एक नवीन विभूति इन निबन्धों के द्वारा गद्य-साहित्य में आई। कहीं-कहीं इन्होंने अपनी भावनाओं को रहस्यमय रूप में व्यक्त किया है, इस से भाषा में एक प्रकार की लाक्षणिकता आ गई है। उनकी यह लाक्षणिकता निबन्ध-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। भाषा की विशुद्धता की ओर अध्यापक जी का विशेष झुकाव है। वर्णन करते समय भाषा सरल और व्यावहारिक होती है तथा विचार-प्रकाशन के समय क्लिष्ट और प्रचण्ड। उनके इन निबन्धों से उनके व्यक्तित्व का सहज ही में परिचय प्राप्त हो जाता है। एक उदाहरण देखिए—

'आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफ़िर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फैंककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तो हिन्दू चकित हो गये कि वह नग्न करने अथवा नग्न होने वाला उनका कौनसा शिव था।'

दूसरे लेखक हैं गुलाबराय। बाबू श्यामसुन्दरदास जी और पंडित रामचन्द्र शुक्ल की शैली पर लिखे गये इनके निबन्धों में गम्भीरता और न्यायपूर्णता दृष्टिगत होती है। इनकी दो शैलियाँ देखने को मिलती हैं। जहाँ तक विचारात्मक निबंधों का सम्बन्ध है, वहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों और प्रचलित मुहावरों का प्रयोग किया गया है। अँग्रेजी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग इनकी विशेषता है। भावात्मक निबंधों में भी इन निबंधों की भाँति एक सुन्दर रूप देखने को मिलता है। इन निबन्धों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। बोधगम्यता इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है। विषय का प्रतिपादन गुलाबराय जी मनोवैज्ञानिक ढंग से करते हैं। विषय की तह में पैठकर सूक्ष्म

से सूक्ष्म बात का विवेचन करने में भी नहीं चूकते। विचार स्पष्ट हैं और उन्हें सुचारु रूप से सजाया गया है। वाक्यों में सरसता है और क्रम-बद्ध रूप से रक्खे गये हैं। नमूना देखिए—

'अपनी रक्षा कुटुम्ब की रक्षा से है, कुटुम्ब की रक्षा देश की रक्षा से है, देश की रक्षा मानव-जाति की रक्षा से है और मानव-जाति की रक्षा विश्व की स्थिति में है, उसका कारण यह है कि मानव-समाज में अभी भिन्न-भिन्न आदर्श वर्तमान हैं। जैसे-जैसे आदर्शों की एकता होती जायगी और जैसे-जैसे मनुष्यसमाज एक प्रेम-सूत्र में बँधता जायगा, वैसे ही वैसे देश-भक्ति और विश्व-प्रेम में विरोध घटता जायगा। मानव-जाति का एक बड़ा साम्राज्य बन जायगा, जिसमें पशु-पक्षी आदि भी अपना उचित स्थान पावेंगे।'

द्विवेदी-युग में तार्किक और व्याख्यात्मक निबन्ध भी लिखे गये, यद्यपि इनकी संख्या बहुत ही कम है। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक अपनी तर्क-शक्ति के द्वारा अपने विषय की व्याख्या करता रहता है। इस प्रकार के निबन्धों में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'हमारी शिक्षा किस भाषा में हो?' गुलाबराय का 'सर्वोत्तम काव्य' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि इनमें तरह-तरह की युक्तियों से काम लिया गया है। भाषा में तत्सम शब्दों की बहुलता है और वाक्यविन्यास सुन्दर बन पड़ा है। निबन्ध में सर्वत्र क्रम-बद्धता के दर्शन होते हैं।

द्विवेदी-युग के निबन्धों के विकास में आत्मव्यञ्जक निबन्ध विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व प्रधान रूप से व्यञ्जित होता रहता है। चाहे वर्णन के लिए कोई भी विषय लिया जाय, निबन्धकार अपने व्यक्तित्व का समावेश कर उसे रोचक बना डालता है। आत्मव्यञ्जक निबन्धों के भी दो रूप होते हैं। एक तो वह, जिसमें लेखक वर्ण्य विषय का लेशमात्र

भी ध्यान नहीं रखता, केवल अपने मन की बात कहता जाता है। दूसरा रूप वह है जिसमें विषय का भी ध्यान रक्खा जाता है और अपने मन की बात भी कही जाती है। प्रथम प्रकार के आत्मव्यंजक निबन्धों में पद्मसिंह शर्मा का 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' और गणेशशंकर विद्यार्थी का 'कर्मवीर प्रताप' आदि तथा दूसरे प्रकार में सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध लिये जा सकते हैं, लेकिन आत्मव्यञ्जक निबन्धों का विशुद्ध रूप पूर्णसिंह में नहीं, शेष दो लेखकों में है। इनमें लेखक अपने ही भावों और रुचि के अनुसार विचार प्रकट करते जाते हैं। इन निबन्धों का रूप स्वगत भाषणों से मिलता-जुलता है। इनमें व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया गया है, लेकिन उसमें सजीवता, चंचलता और मार्मिकता रहती है। मूर्तिमत्ता इनकी प्रधान विशेषता है। पढ़ते-पढ़ते आँखों के सामने एक चित्र खड़ा हो जाता है। उदाहरण के लिए 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' का यह अंश देखिये, लेखक का कितना आत्म-चिंतन इसमें प्रदर्शित किया गया है :—

'और लीजिये, दूसरे मित्र विश्वनाथ हैं। यह बाल-बच्चों वाले आदमी हैं, और रात-दिन इन्हीं की चिन्ता में रहते हैं। जब कभी मिलने आते हैं तो तीसरे पहर के क़रीब आते हैं, जब मैं काम से निबट चुकता हूँ। पर इस कदर थका हुआ होता हूँ कि जी यही चाहता है कि एक घंटे आराम क़ुरसी पर चुपचाप पड़ा रहूँ। पर विश्वनाथ आये हैं, उनसे मिलना ज़रूरी है, उनके पास बातें करने के लिये सिवा अपनी स्त्री और बच्चों की बीमारी के और कोई मज़मून ही नहीं।'

इन भिन्न-भिन्न निबन्धों के साथ पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी तथा जी० पी० श्रीवास्तव द्वारा हास्यप्रधान निबन्धों की भी सृष्टि हुई। द्विवेदी-युग के इन विभिन्न निबन्धों से गद्य-साहित्य धनी हो गया, उसका पर्याप्त विकास होने लगा

और साथ ही साथ नई-नई शैलियों का भी जन्म हुआ।

(२) कवित्वमय निबन्ध : गद्य-गीत

कवित्वमय निबन्धों का विकास गद्य-गीतों के रूप में हुआ, जिनमें गीति-काव्य की कला का पूरा-पूरा अनुकरण किया गया। चित्र-चित्रण, नाद-ध्वनि और लय इस प्रकार के निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। हिन्दी-गद्य में इस प्रकार के गद्य-गीतों की प्रधानता और उनके प्रचलन के दो कारण दृष्टिगत होते हैं। प्रथम तो स्वच्छन्दवाद का प्रभाव था, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी-गद्य की शैली, उसके रूप और उपादानों में नये-नये परिवर्तन होने लगे। द्वितीय, रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'गीतांजलि' ने अनेक लेखकों को इस दिशा की ओर अग्रसर किया। जिन-जिन प्रमुख लेखकों द्वारा गद्य-गीतों द्वारा हिन्दी-गद्य का कार्य्य सुचारु रूप से चलता रहा उनमें वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास आदि का नाम सगर्व लिया जा सकता है।

रायकृष्णदासजी एक समर्थ और सशक्त भाषा के प्रतिष्ठापक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। गद्य-गीत लिखने में आप कोई सानी नहीं रखते। अतः हिन्दी के गद्य-लेखकों में आपका स्थान बहुत ऊँचा हो जाता है। आपकी शैली में अनुभूति और कल्पना दोनों का पर्याप्त मात्रा में सामञ्जस्य देखने को मिलता है। भावनाओं की गम्भीरता के साथ उनकी भाषा में एक संयत रूप भी पाया जाता है। इनकी सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि गद्य-गीतों में आपने व्यावहारिक और नित्य की चलती-फिरती सीधी-सादी भाषा का प्रयोग किया है, जिससे भाव-प्रकाशन में स्पष्टता आ गई है, उसमें किसी प्रकार का कोई रहस्य नहीं। भाषा और भाव का ऐसा

संयोग अन्य लेखकों में नहीं पाया जाता। वाक्य छोटे-छोटे और प्रवाहपूर्ण हैं। शब्दों का चुनाव बड़ा ही मनोहर है। वर्णन में चित्रोपमता है। प्राकृतिक दृश्यों के प्रति आपका अनुराग 'प्रसाद' से किसी अंश में कम नहीं। नाद-ध्वनि और लय का बराबर ध्यान रखा गया है। शैली कवित्वपूर्ण है, उसकी सजावट तथा भाव-भंगी भी निराली है। एक उदाहरण देखिए—

'मेरे नाच में न लय है, न भाव। लेकिन तो भी तुम्हें उसी में खुशी मिल जाती है। मेरी पैंजनी कभी एकदम से बज उठती, कभी मंद पड़ जाती है। मेरा कठुला मेरे वक्ष पर हिलोरें मार रहा है और उसके घुँघरू चुनमुन-चुनमुन ध्वनि करते हैं। मेरे झगा के छोर छहर रहे हैं और मेरे कोमल, कुटिल, स्वर्ण-धूसर केशों के सिरे जरा-जरा उड़ रहे हैं, मेरे चक्कर काटने से आन्दोलित पवन द्वारा उत्कंपित हो रहे हैं। माँ! सब छोड़ कर तुम मेरी यह लीला क्यों देखती हो!'

रायकृष्णदास जी की तरह श्री वियोगी हरि ने भी रवीन्द्र-नाथ टैगोर से प्रभावित होकर उत्कृष्ट कलापूर्ण गद्य-गीतों की सृष्टि की। रायकृष्णदास और वियोगी हरि की शैली में अन्तर है। वियोगी हरि के गद्य-गीतों की शैली में लम्बी-लम्बी समास-पदावली के दर्शन होते हैं। अनुप्रासिकता की बहार इनकी प्रमुख विशेषता है। उर्दू और संस्कृत के शब्दों का बेमेल संयोग भी स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होता है। इनमें दीर्घ समासों का अभाव है। वियोगी जी एक भावुक लेखक हैं। इन के भक्ति के उद्गारों में जितनी भावुकता सरसता और सत्यता रहती है, उतनी अन्य लेखकों में नहीं। गद्य-गीतों में आपका व्यक्तित्व सर्वत्र देखा जा सकता है। भावपूर्ण गद्य-गीतों में भाषा के दो स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। एक में पांडित्य-प्रदर्शन, अलंकार, अनुप्रास इत्यादि की ओर प्रवृत्ति अधिक लगी हुई है। दूसरी

शैली में हृदय के भावों को सीधे-सादे ढंग से घरेलू मीठी भाषा से व्यक्त किया गया है। भावावेश की शैली में भावुकता की मात्रा अधिक है, वाक्य छोटे-छोटे हैं। शब्द ऐसे हैं, जिनसे हम पूर्ण परिचित हैं। इसमें कहीं-कहीं विदेशी शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिल जाता है। प्रथम शैली की भाषा मस्ती के साथ झूमती हुई आगे बढ़ती है। पद्य की सरस उक्तियों को गद्य की लड़ी में पहना कर गद्य और पद्य के भेद को नष्ट करने वाली आपकी शैली बड़ी ही मार्मिक और आकर्षक होती है। लम्बे-लम्बे साङ्गरूपकों की योजना का निर्वाह बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। उनकी शैली का एक उदाहरण देखिये—

'दया-धाम! कांटा निकाल कर क्या करोगे? चुभा सो चुभा! उसकी कसकीली चुभन ही तो अब तक मेरे इन अधीर प्राणों को धैर्य बँधाती आई है। सच मानो, प्रीति-गली के इस कांटे की कसकीली चुभन या चुभीली कसक ही मेरे जीर्ण-शीर्ण जीवन का एक मधुरतम अनुभव है। सो, नाथ! यह कांटा अब ऐसा ही चुभा रहने दो।'

चतुरसेन शास्त्री के गद्य-गीतों में भी लय और संगीत के स्पष्ट दर्शन होते हैं। शब्दों के तोड़-मरोड़ और उतार-चढ़ाव में तो शास्त्री जी ने कमाल कर दिया है। शास्त्री जी प्रायः मधुर तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं। व्यावहारिकता और अकृत्रिमता आपकी सब से बड़ी विशेषता है। भाषा विषय के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। कहीं-कहीं उनमें वर्णनात्मक और संलाप-शैलियों का सुन्दर सामंजस्य देखने को मिलता है। उनके गद्य-गीत का एक अंश देखिये—

'और एक बार तुम आये थे, यही तुम्हारा ध्रुव श्याम-रूप था, यही तुम्हारा अविनिन्दित अभ्यस्त हास्य था, अक्षुण्ण मस्ती थी। इसी तरह तुमने तब भी भारत के नर-नारी—सब लोगों को मोह लिया था। कृष्ण यमुना इसकी साक्षी है।'

द्विवेदी-युग के ये गद्य-गीत हिन्दी-साहित्य को एक नवीन देन हैं। आज भी गद्य-गीतों का यह क्रम अप्रतिहत रूप से चला आ रहा है।

(३) समालोचना

अब तक जितनी आलोचनाएँ हुईं, वे प्रायः पुस्तकों को लेकर पत्रिकाओं में सम्पादकों द्वारा की जाती थीं। आलोचना जन-साधारण से दूर की वस्तु थी। पुस्तक-रूप में आलोचना करने का श्रेय सर्वप्रथम द्विवेदी जी को है। उन्होंने सन् १९०१ ई० में 'हिंदी कालिदास की समालोचना' लिखी, जिसमें लाला सीताराम बी० ए० द्वारा अनुवादित कालिदास के ग्रंथों 'कुमार-संभव', 'ऋतु संहार', 'मेघदूत' और 'रघुवंश' पर भाषा तथा भाव सम्बन्धी दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। हिन्दी-समालोचना में यह अपने समय की पहिली पुस्तक है। आगे चलकर द्विवेदी जी ने कुछ संस्कृत कवियों को लेकर दूसरे ढंग की समीक्षाएं प्रकाशित कीं। इनमें लेखकों की विशेषताओं का भी परिचय दिया गया है। 'विक्रमांक देव-चरित चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' इस दृष्टि से उनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। द्विवेदी जी का एक और भी ग्रन्थ देखने को मिलता है—'कालिदास की निरंकुशता'। द्विवेदी जी के इन ग्रन्थों में यद्यपि हमें स्वतन्त्र समालोचना का रूप देखने को नहीं मिलता, लेकिन इतना तो निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि उनके नेतृत्व में ही समालोचना का वृक्ष पनपा। उनकी इन समीक्षाओं ने आने वाले लेखकों के लिए रास्ता साफ कर दिया। फिर तो इसका क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि केवल थोड़े समय के भीतर ही मिश्रबंधु, पद्मसिंह, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रतिभासम्पन्न लेखक

इस क्षेत्र में विशेष रुचि दिखाने लगे। अस्तु, द्विवेदी-युग के समालोचना-साहित्य को समझने के लिये हम इसे चार भागों में विभाजित कर सकते हैं:—(१) साहित्य-समीक्षा (२) शोध और अध्ययन (३) समालोचना-सिद्धांत और (४) गम्भीर समालोचना।

साहित्यिक समीक्षाओं का आरम्भ पत्र-पत्रिकाओं से हुआ। 'समालोचना', 'सुदर्शन', 'सरस्वती' आदि में उस समय इस प्रकार की समीक्षाएँ प्रकाशित होती रहती थीं। पुस्तकों की संख्या अधिक बढ़ जाने के कारण इन सम्पादकों ने अपने-अपने पत्र में एक अलग स्तंभ बना दिया था, जिसके अन्तर्गत वे पाठकों को अच्छी पुस्तकों को पढ़ने और बुरी पुस्तकों से बचने के लिए संकेत करते रहते थे। 'सरस्वती' में द्विवेदी जी द्वारा लिखी गई एक समीक्षा का उदाहरण देखिये:—

'सिद्ध-दर्शन। इसका दूसरा नाम 'राक्षसी माया का परिचय'। टाइटिल पेज इस पर नहीं है। इसके कर्ता बरेली निवासी गुन्नीलाल शास्त्री हैं। इसमें सूत्र हैं। जैसे संस्कृत के प्राचीन पुस्तकों में सूत्र हैं, वैसे ही इसमें भी हैं। उनका भाष्य भी है। वह भी हिंदी में है। नग्न रहने वाले, भूत-प्रेत इत्यादि सिद्ध करने का यत्न करने वाले, तथा अघोरपंथी मत के अनुयायिओं के प्रतिकूल बहुत सी बातें इसमें शास्त्री जी ने लिखी हैं।'

एक समालोचक के लिए जिन प्राथमिक बातों की आवश्यकता होनी चाहिए, वे हैं कि वह उच्च कोटि का विद्वान् हो, गुण को ग्रहण करने वाला हो और सदैव निष्पक्ष भाव से ग्रन्थ के प्रति अपने विचार प्रकट करता रहे। साहित्यिक समीक्षाओं के आदि काल में इन बातों का पूर्ण निर्वाह किया गया, लेकिन खेद के साथ लिखना पड़ता है कि कालान्तर में एक ओर विज्ञापन प्रवृत्ति की अभिवृद्धि और दूसरी ओर दलबन्दी के

बढ़ जाने के कारण समालोचना का आदर्श गिरने लगा।

द्विवेदी-युग में अध्ययन और खोज का कार्य्य भी ज़ोरों से चलने लगा। सरयूप्रसाद मिश्र ने बंगला से 'भारतवर्षीय संस्कृत-कवियों का समय-निरूपण' और गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी से 'संस्कृत-कवि-पंचक' नामक अनुवाद प्रस्तुत किये। द्विवेदी जी 'नैषध-चरित-चर्चा' नामक ग्रन्थ द्वारा लेखक का जीवन-चरित्र और परिचयात्मक आलोचना लिख ही चुके थे। इस प्रकार की उनकी दूसरी रचना 'कालिदास की निरंकुशता' थी। इनसे प्रभावित होकर किशोरीलाल गोस्वामी ने 'अभिज्ञान शाकुंतल और पद्म-पुराण' सन् १६०० ई० के लेख में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि 'शकुंतला' का कथानक पद्मपुराण से लिया गया है। इसी प्रकार चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'विक्रमोर्वशी की मूल-कथा' नामक लेख में यह बात सिद्ध की कि 'विक्रमोर्वशी नाटक' की कथा वेदों से लेकर लिखी गई है। इस प्रकार की समस्त समालोचनाएँ प्राचीन संस्कृत लेखकों पर लिखी जाती थीं।

खोज और अध्ययन के लिए 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' से जो सहायता मिली वह सर्वथा प्रशंसनीय है। सभा की 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में कितने ही महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होने लगे। इस दृष्टि से सबसे अधिक तत्परता बाबू श्यामसुन्दरदास ने दिखलाई। उन्होंने बराबर खोज सम्बन्धी काय जारी रक्खा। बाबू जी के पश्चात् पंडित श्यामबिहारी मिश्र ने यह खोज का कार्य किया। इन विविध खोजों का शुभ परिणाम यह हुआ कि हिंदी के अनेक अज्ञात कवि और लेखकों की रचनाएँ, उनका जीवन-वृत्त, काव्यगत विशेषतायें आदि हमारे सामने आईं। हमारे प्राचीन साहित्य की रक्षा करने वाले हिंदी-हितैषियों में इन साहित्यकारों का स्थान बहुत

ऊँचा है। 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में गंभीर और विद्वत्तापूर्ण लेखों की भी कमी नहीं है।

समालोचना-सिद्धान्त की दृष्टि से भी अनेक पुस्तकें लिखी गईं। पहले प्रकार की पुस्तकें वे हैं जिनमें संस्कृत-समालोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे प्रकार की पुस्तकें वे हैं, जिनमें पाश्चात्य समालोचना के सिद्धान्तों का अनुकरण किया गया है। तीसरे प्रकार की पुस्तकें वे हैं, जिनमें संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धान्तों का मेल देखने को मिलता हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' (सन् १९२२ ई०) इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

समालोचना साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गम्भीर समालोचना मिश्रबंधुओं ने की है। मिश्रबंधुओं ने सर्वप्रथम हिंदी लेखकों की कृतियों को अपनी आलोचना का विषय बनाया। वे संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्धारित कसौटी पर घिसकर किसी कृति का मूल्यांकन करते थे। इन्होंने सन् १९११ ई० में 'हिंदी नवरत्न' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा, जिसमें हिंदी के नौ कवियों पर समालोचना की गई है। समालोचना-साहित्य में मिश्रबंधुओं का यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके पूर्व लिखे गये ग्रन्थों में उन्होंने प्राचीन परम्परा का ही अनुशीलन किया है, लेकिन इसमें उन्होंने कवियों के बाह्य एवं आंतरिक दोनों रूपों की विशद तथा भव्य विवेचना की है।

गम्भीर समालोचना साहित्य में पंडित रामचंद्र शुक्ल की समालोचनाएँ अद्वितीय हैं। उनके सदृश प्रतिभा-सम्पन्न समालोचक आज भी देखने को नहीं मिलता। शुक्ल जी ने 'जायसी ग्रन्थावली' (सन् १९२२ ई०), 'तुलसी-ग्रन्थावली' (सन् १९२३ ई०) और 'भ्रमर-गीत-सार' (सन् १९२५ ई०) का सम्पादन किया और संपादकीय भूमिकाओं या प्रस्तावनाओं

के रूप में समालोचनात्मक-निबंध लिखे हैं। इन निबंधों में काव्यों का एक व्यापक विचार हुआ है और इनमें समालोचना का एक सामान्य रूप पाया जाता है। मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक या साहित्यिक समीक्षाओं के द्वारा उन्होंने जो विवेचन किया है, वह हमारे सामने एक आदर्श है। विवेचन की शैली, समीक्षा की पद्धति यद्यपि पाश्चात्य ढंग की है, तथापि भारतीय रस, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि का विवेचन करना भी वे नहीं भूले हैं। उनकी समीक्षा-प्रणाली तो पाश्चात्य साहित्य की देन है, काव्य-विवेचन प्रधानतः भारतीय-पद्धति के अनुसार हुआ है। शुक्ल जी के इन निबंधों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने सर्वत्र निष्पक्ष और न्याययुक्त भावना का परिचय दिया है। शुक्लजी अपने समय के सबसे योग्य और कुशल साहित्यिक-न्यायाधीश थे, जिन्होंने कृतियों के अन्तराल में प्रवेश कर सही-सही फैसला दिया है। निबंधों की तरह इन समालोचनाओं में भी शुक्लजी के हृदय और मस्तिष्क का पर्याप्त मात्रा में सामञ्जस्य दृष्टि-गत होता है। भाषा निबंधों की तरह गठी हुई है। संक्षेप में, हिंदी-समालोचना के आधुनिक आदर्श की प्रतिष्ठा का श्रेय शुक्ल जी को ही है। सूरदास के संप्रदाय के परिचय में विचार के साथ उनकी भावात्मकता और गद्य की सालंकारता का यह उदाहरण देखिए, कितना उत्कृष्ट है :—

'जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिलकंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर व्रज के करीलकुंजों के बीच फैल मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएं श्री-कृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊंची, सुरीली

और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।'

रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कृष्णबिहारी मिश्र, गिरधर शर्मा, श्यामसुन्दरदास आदि ने भी गम्भीर समालोचनाएँ लिखकर हिन्दी-गद्य की अभूतपूर्व उन्नति की है। श्यामसुन्दरदास को छोड़कर शेष सभी समालोचक प्राचीन पद्धति के आराधक हैं, उनमें वैज्ञानिकता के दर्शन नहीं होते, अतः उनका स्थान उच्च नहीं है। पुनः ये लोग फुटकर रूप में हिन्दी की मासिक-पत्र-पत्रिकाओं में अपनी समालोचनाएँ प्रकाशनार्थ भेजते थे। शुक्ल जी अथवा बाबू जी की भाँति इनमें से किसी ने कोई ठोस कार्य नहीं किया। द्विवेदी-युग के इस समालोचना-साहित्य ने गद्य-साहित्य के निर्माण में जो योग दिया, वह सर्वथा स्तुत्य है।

(४) उपन्यास

द्विवेदी-युग में नवीन लेखकों के कार्य-क्षेत्र में आने पर उपन्यासों के कला-रूप का विकास हुआ। विकास के साथ ही साथ नई-नई शैलियों का जन्म हुआ।

अय्यारी-तिलिस्मी उपन्यास:—द्विवेदी-युग में सन् १९००—१९१५ ई० तक अय्यारी-तिलिस्मी उपन्यास अधिक संख्या में लिखे गये। इस प्रकार के सभी उपन्यासों का कथानक प्रायः एक-सा है। नायक और नायिका में प्रथम दर्शन से प्रेम होता है। विवाह के समय कुछ कारणों से बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। पारस्परिक मिलन के लिए फिर दोनों ओर से अय्यार छोड़े जाते हैं, जो इस काम में सहायक होते हैं। अनेक घात-प्रतिघातों के बाद नायक-नायिका में विवाह हो जाता है। इन उपन्यासों का कथानक बड़ा ही जटिल होता है और उसमें उलझनें इतनी रहती हैं कि लेखक उन्हें सुलझाने के लिए तिलिस्मों

का आश्रय लेता है। इन उपन्यासों में कहीं-कहीं अनुपम सूझ दिखाई देती है, और कहीं-कहीं साधारण लेखकों के द्वारा अति-प्राकृत प्रसंगों का भी आरोप कर दिया जाता है। अय्यारों की अवतारणा इनकी प्रमुख विशेषता है, जो गजब का काम कर दिखाते हैं। साथ ही नैतिकता और वीरता की दृष्टि से ये अय्यार भले मानुष होते हैं। खत्री जी के आरम्भिक 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता-संतति' की लोक-प्रियता देखकर अनेक लेखकों ने उनका अनुकरण किया।

खत्रीजी के अनुकरण पर द्विवेदी-युग में जो उपन्यास लिखे गये वे ये हैं—हरेकृष्ण जौहर के 'भयानक भ्रम', 'नारी-पिशाच', 'मयंक-मोहिनी', जादूगर', 'कमलकुमारी', 'निराला नक़ाबपोश' तथा 'भयानक खून', देवकीनन्दन खत्री के 'गुप्तगोदना', 'काजर की कोठरी', 'अनूठी बेगम', किशोरीलाल गोस्वामी के 'याकूती तख्ती', आदि-आदि। लेकिन आगे चलकर अय्यारी-तिलिस्मी उपन्यासों की यह धारा थोड़े समय तक और चलकर लुप्त हो गई।

जासूसी उपन्यास:—द्विवेदी-युग में जासूसी उपन्यास भी पर्याप्त संख्या में लिखे गये जिनमें चोरी, डाका अथवा हत्या के विविध वर्णन देखने को मिलते हैं। इनमें डकैती होने पर जासूस और पुलिस डाकुओं का पीछा करते हैं और अनेक घात-प्रतिघातों तथा साहसिक कार्यों के बाद वे अपने उद्देश्य में सफल भी हो जाते हैं। इन उपन्यासों के ठग बुरे और भले दोनों प्रकृति के होते हैं। कहीं-कहीं डाकुओं का झुण्ड पुलिस के हाथ में पड़ जाता है, तो कहीं हाथ में आकर डाकू पुनः भाग जाते हैं। जासूसी उपन्यासों में गोपालराम गहमरी के उपन्यास सर्वोत्कृष्ट हैं। उनका कथानक स्वाभाविक और यथार्थवादी है और कथा-वस्तु की उलझनों को बड़ी ही सरलता के साथ सुलझाया गया

की एक सूक्ष्म झाँकी के दर्शन होते हैं, इसके अन्यत्र और कुछ नहीं। चरित्र अत्यन्त ही निम्नकोटि के हैं। इसमें व्रजनन्दन-सहाय का 'अद्भुत प्रायश्चित्त', नवलराय का 'प्रेम' और सकल-नारायण पांडेय का 'अपराजिता' आदि उपन्यासों के नाम लिये जा सकते हैं। यद्यपि ये उपन्यास संख्या में बहुत ही कम हैं, लेकिन इनके द्वारा आगे के लेखकों को प्रेरणा मिली और इन सभी उपन्यासों में प्रेम की प्रधानता है, लेकिन यह प्रेम वासनामय नहीं, जीवन की साधना के रूप में है। आगे चलकर इस प्रकार के उपन्यासों का विकास होने लगा। पीड़ितों और अत्याचारियों के चित्र उपन्यासों में खींचे जाने लगे। कहीं-कहीं तो लेखकों के रेखा-चित्र बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। इस दृष्टि से व्रजनन्दनसहाय का 'राधाकांत', मन्नन द्विवेदी के 'रामलाल' तथा 'कल्याणी', अवधनारायण का 'विमाता' और शिवपूजनसहाय का 'देहाती दुनिया' नामक उपन्यास विशेष स्थान रखते हैं। इन लेखकों के पात्रों में यद्यपि व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाया है, लेकिन रेखाचित्र सफल हुए हैं।

कला-पूर्ण चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखने में प्रेमचन्द जी का स्थान बहुत ऊँचा है। हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में आने के पूर्व प्रेम-चन्द जी 'नवाबराय' के नाम से सन् १९०४ ई० में 'हम खुर्मा व हम सवाब' (प्रेमा) और सन् १९१२ ई० में 'जलवा-ए-ईसार' (वरदान) नामक उपन्यास उर्दू में लिख चुके थे। हिन्दी-क्षेत्र में आने के बाद इनके अनुवाद हुए। हिन्दी में प्रेमचन्द ने 'सेवा-सदन' (सन् १९१८ ई०), 'प्रेमाश्रम' (सन् १९२१ ई०), 'रंगभूमि' (सन् १९२२ ई०) और 'कायाकल्प' (सन् १९२४ ई०) नामक उपन्यास लिखे। ये चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं, जिनमें लेखक ने शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण नायकों की कल्पना कर उप-

न्यासों को श्रेष्ठ रूप दिया है। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यास-साहित्य केवल नाम-मात्र का है। यदि है भी तो वह विलास-प्रधान है। अधिक लेखकों का ध्यान केवल मनोरंजन देना ही रहा, साहित्यिकता प्रदान करना नहीं। भाषा, भाव आदि की दृष्टि से प्रेमचन्द प्रथम मौलिक उपन्यासकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। चरित्र-चित्रण का पूर्ण विकास सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही किया, यह निर्विवाद सत्य है। उन्होंने पात्रों की बाह्य एवं आभ्यन्तरिक विशेषताओं की ओर ध्यान देकर उनकी व्यक्तिगत रुचि, भावना तथा दुर्बलताओं का चित्र हमारे सामने रक्खा। प्रेमचन्द के इन उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण भी खूब देखने को मिलता है। वस्तु-विविधता की दृष्टि से ये उपन्यास महत्त्व-पूर्ण हैं। 'सेवासदन' में समाज में प्रचलित रूढ़ियों के मार्मिक चित्र खींचे गये हैं। 'प्रेमाश्रम' में गरीब कृषकों और अमीर जमींदारों के मध्य उत्पन्न होने वाली उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। 'रंगभूमि' में राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। 'कायाकल्प' चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक अद्वितीय उपन्यास है। यह बात अवश्य है कि कथा-वस्तु में आध्यात्मिकता का पुट होने के कारण बड़ी कष्ट-कल्पना की आवश्यकता पड़ी है। यदि इस समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इन उपन्यासों की समीक्षा की जाय तो हम देखेंगे कि प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यासों को चरम विकास पर पहुँचा दिया। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विजय उनकी भाषा है। उनके वर्णन की, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा परिस्थिति चित्रण की, कथोपकथन की, प्रकृति-वर्णन की, मन के तत्त्व-प्रधान वर्णन की, चाहे किसी भी भाषा को देखिये, उसमें भाव और शैली का सुन्दर समन्वय किया गया है। भाषा का

एक चलता हुआ रूप उनके उपन्यासों में पाया जाता है, जो कथा-साहित्य के लिये सर्वथा उपयुक्त है। अनुभूति की सचाई होने के कारण भाषा सरल, स्वच्छ, सबल है और शैली कवित्वपूर्ण। सुन्दर-सुन्दर मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा अमर सारगर्भित वाक्य प्रेमचन्द की ही देन है। संक्षेप में, उनके द्वारा उपन्यासों का जो साहित्यिक विकास हुआ, उसका अनुमान लगाना कठिन है।

'सेवासदन' के बाद उनसे प्रभावित होकर (सन् १९१८-२५ ई० तक) अन्य कई प्रतिभासम्पन्न लेखकों ने उत्कृष्ट कोटि के उपन्यास लिखे। ऐसे लेखकों में चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', इलाचन्द्र जोशी, चन्द्रशेखर पाठक, वृन्दावनलाल वर्मा, जयशंकरप्रसाद, व्रजनन्दनसहाय और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं। इनको इस स्थल पर पृथक् रूप से उल्लेख करने की चेष्टा इसलिये की गई है कि वस्तु, पात्र, शैली आदि की दृष्टि से ये विशेष महत्त्व रखते हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में प्रेमचन्द का अनुशीलन करने वाले व्रजनन्दनसहाय, अवधनारायण और जगदीश झा 'विमल' थे, जिनके उपन्यासों का उल्लेख हो चुका है। प्रेमचन्द की भाँति इनके उपन्यासों का कथानक भी सामयिक होता था, लेकिन उनमें कोई शक्तिशाली पात्र देखने को नहीं मिलता। इसी प्रकार प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'विदा', यदुनन्दनप्रसाद ने 'अपराधी', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'माँ' और शिव-नारायण द्विवेदी ने 'छाया' नामक उपन्यास लिखे। इनकी कथा-वस्तु भी सामयिक है और चरित्र-चित्रण पर अधिक जोर दिया गया है।

चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की परख' और 'व्यभिचार', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'दिल्ली का दलाल', चन्द्रशेखर

पाठक ने 'वारांगना-रहस्य' तथा इलाचन्द्र जोशी ने 'घृणामयी' नामक उपन्यासों की सृष्टि कर चरित्र-प्रधान उपन्यासों में विशेष ख्याति प्राप्त की। वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये उपन्यास उच्चकोटि के हैं और प्रेमचन्द तथा उनके वर्ग के लेखकों से भी अधिक सफल बन पड़े हैं, लेकिन इनके कथानक घृणित और दूषित वर्ग से लिये गये हैं। इसलिए इनमें साहित्यिक सौंदर्य और गुणों का सर्वथा अभाव है। लेखकों की दृष्टि जीवन के यथार्थ सत्य की ओर अधिक लगी हुई है, इसलिये उसमें कुछ ऐसे चित्र आ गये हैं जिनसे समाज घृणा करता है। कला की दृष्टि से इनका महत्त्व अधिक है, साधारण जनता की रुचि की दृष्टि से इनका कोई महत्त्व नहीं है। इस प्रकार के उपन्यासों को प्राकृतवादी उपन्यास कह सकते हैं।

प्रेमचन्द के समकालीन जयशंकरप्रसाद ने 'कंकाल', व्रज-नंदनसहाय ने 'सौंदर्योपासक' और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मनोरमा' नामक उपन्यास लिखकर भावप्रधान उपन्यासों की सृष्टि की। इन उपन्यासों में कथावस्तु का सरल ढंग से निर्वाह किया गया है। उनमें न तो उलझनें हैं, न गम्भीर परिस्थितियाँ और न कोई विकास। लेखकों का ध्यान एकमात्र कवित्त्वपूर्ण शैली में अपने हृदय की भावनाओं को चित्रित करने की ओर लगा हुआ है। 'कंकाल' में 'दिल्ली का दलाल' की भाँति मर्यादा का उल्लंघन नहीं पाया जाता। उसमें वासनामय कुत्सित चित्रों का नग्न-प्रदर्शन नहीं है। उसमें कवित्त्वपूर्ण शैली के द्वारा दलितों और दुखियों के विभिन्न अंगों को चित्रित कर अभिमानी वर्ग को चेतावनी दी गई है। प्रसाद ने अपने नाटकों की तरह इसमें आशावादी संदेश दिया है। दोष केवल इतना ही है कि उसमें जीवन के एक पक्ष का ही चित्रण किया गया है।

अन्त में, वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़-कुंडार' का उल्लेख

किये विना हम नहीं रह सकते। वर्मा जी का 'गढ़-कुंडार' एक उत्कृष्ट कोटि का ऐतिहासिक उपन्यास है। अब तक के ऐतिहासिक उपन्यासों में इसका स्थान सबसे ऊँचा है। उनके सब उपन्यासों में 'गढ़-कुंडार' ही उनको अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। इसमें मध्यकालीन बुन्देलखण्ड की संस्कृति, उसकी सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति और वातावरण का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। वातावरण, घटनाएँ और प्रधान पात्र इतिहास-सम्मत हैं। कुछ घटनायें कल्पित हैं। वर्मा जी एक भावुक और सहृदय लेखक हैं, उनमें उच्चकोटि की कल्पना-विधान की शक्ति है। यही कारण है कि वे कथा के मार्मिक स्थलों को पहचान कर एक हृदयग्राही चित्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। वर्मा जी के इस सफल ऐतिहासिक उपन्यास पर हम सब को गर्व है।

(५) कहानी

आधुनिक ढंग की कहानियों का आरम्भ, जिसमें कल्पना शक्ति के सहारे कम से कम पात्रों और घटनाओं की सहायता से कथानक, चरित्र, वातावरण, प्रभाव आदि की सृष्टि की गई, हिन्दी के मासिक और साप्ताहिक पत्रों के द्वारा द्विवेदी-युग में ही हो सका। यथार्थ में आज की कहानी प्राचीन आख्यायिकाओं का एक विकसित कलात्मक रूप ही समझना चाहिए। सन् १६०० ई० में 'सरस्वती' रूपी वीणा के वजने पर ही कहानी रूपी झन्कार सुनाई दी। मौलिक कहानियों के इस आदि काल में सर्वप्रथम अनुवाद की ही धूम रही। सन् १६००–१० ई० तक एक प्रकार से प्रयोगात्मक युग ही रहा, जिसमें लेखक अपना-अपना मार्ग ढूँढने में लगे हुए थे। विश्वविख्यात नाटककार शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद सन् १६०० ई० में 'सरस्वती' में कहानी-रूप में होने लगा। साथ ही संस्कृत के नाटकों का भी

कहानी-रूप में अनुवाद हुआ। किशोरीलाल गोस्वामी की हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी 'इन्दुमती' सरस्वती में प्रकाशित हुई।

विदेशी कहानियों का रूपान्तर दूसरी ओर गिरिजाकुमार घोष (पार्वतीनन्दन), श्रीमती बंगमहिला, स्वामी सत्यदेव, उदयनारायण वाजपेयी, विश्वम्भरनाथ जिज्जा आदि के द्वारा उपस्थित किया गया। सन् १६००–१० ई० की उल्लेखनीय कहानी केवल बंगमहिला की 'दुलाई वाली' है जिसे बहुत से लोग हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानते हैं। इसमें साधारण घटनाओं को लेकर एक यथार्थवादी चित्र उपस्थित किया गया है, जिससे कहानी में प्रभावोत्पादकता आ गई है। तदनन्तर हिन्दी-साहित्याकाश में 'इन्दु' का उदय हुआ, जिसमें जयशंकरप्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' (१६११) और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम कहानी 'पिकनिक' (हास्य-रस प्रधान) प्रकाशित हुई। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' (१६११) 'भारत मित्र' नामक पत्र में अलग प्रकाशित हुई। इस प्रकार 'दुलाई वाली' के बाद ये तीन लेखक अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ दिनों तक दैवी-घटनाओं और संयोगों के आधार पर कहानियाँ लिखी जाती रहीं, जैसे ज्वालादत्त शर्मा की 'विधवा' तथा 'तस्कर' और विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षा बन्धन' आदि। लेकिन आगे चलकर सन् १६१६ ई० में प्रेमचन्द की प्रथम कहानी 'पंच परमेश्वर' के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह धारा मंद पड़ गई। द्विवेदी-युग की विभिन्न कहानियों को सुविधा के लिए हम आठ भागों में विभाजित कर सकते हैं :—(१) चरित्र-प्रधान (२) वातावरण-प्रधान (३) कथानक-प्रधान (४) कार्य-प्रधान (५) हास्य-प्रधान (६) ऐतिहासिक (७) प्राकृतवादी और (८) प्रतीकवादी। इन्हीं के अनुसार इस प्रस्तुत साहित्य का अध्ययन किया जायगा।

(१) *चरित्र-प्रधान*—जिस कहानी में पात्र अथवा चरित्र को अन्य तत्त्वों—जैसे कार्य, घटना आदि—से अधिक प्रधानता होती है, उसे चरित्र-प्रधान कहानी कहते हैं। प्रायः चरित्र-प्रधान कहानियों में लेखक का ध्यान एकमात्र सुन्दर चरित्राङ्कन की ओर लगा रहता है। प्रथम प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियाँ वे हैं, जिनमें लेखक किसी विशेष चरित्र को विविध घटनाओं और कार्यों के बीच छोड़कर उसके किसी प्रधान गुण की भव्य व्यंजना करता है। घटनाएँ और कार्य उसके सुन्दर चरित्र-निर्माण में सहायक होते हैं और इसी उद्देश्य से उनकी सृष्टि होती है। चतुरसेन शास्त्री और प्रेमचन्द ने इस प्रकार की कहानियाँ खूब ही लिखीं। द्वितीय प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियाँ वे लिखी गईं, जिनमें पात्र के किसी अंग विशेष का चरित्र बड़ी ही खूबी के साथ किया गया है। यह विशेष पक्ष ही उसके जीवन का आदर्श है और कहानी की सफलता केवल एकमात्र इसी पक्ष की सुन्दर व्यंजना पर निर्भर है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'उसने कहा था', प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी' और जयशंकरप्रसाद की 'भिखारिन' इसके उदाहरण हैं। तृतीय प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियाँ वे लिखी गईं, जिनमें किसी प्रधान चरित्र के स्वभाव में आगे चल कर कोई आकस्मिक परिवर्तन दिखाया गया है। कहानी में प्रभावोत्पादकता तथा उत्सुकता बनाये रखने का यह सब से बड़ा हथियार है, जिसका प्रयोग द्विवेदी-युग के कुछ कहानीकारों ने किया। प्रेमचन्द ने 'आत्माराम', 'दीक्षा', 'शंखनाद' आदि लिखीं और विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'ताई' ने तो इसके सब अंगों की पूर्ति ही कर दी।

(२) *वातावरण-प्रधान*—इनकी संख्या चरित्र-प्रधान कहानियों से कम नहीं है। इस प्रकार की कहानियों में लेखकों का मुख्य

उद्देश्य किसी सुन्दर वातावरण की सृष्टि करना रहा है। वातावरण-प्रधान कहानी के लिए उचित परिपार्श्व की आवश्यकता होती है। लेखकों ने इसका पूरा-पूरा ध्यान रक्खा—बाह्य वातावरण तथा परिपार्श्व के साथ मानव-जीवन की किसी प्रमुख भावना को इस रूप से चित्रित किया कि उसने प्रधानता ग्रहण कर ली। कहानी का विकास केवल एकमात्र इसी भावना के आधार पर हुआ, जिसके चतुर्दिक वातावरण रहता था। कला की दृष्टि से इन कहानियों का स्थान ऊँचा है, क्योंकि इन में लेखकों को अपनी कला प्रदर्शन के लिए अच्छा अवसर हाथ लग जाता है।

(३) *कथानक-प्रधान*—ऐसी कहानियाँ जिनमें घटनाएँ और प्रसंग शेष तत्त्वों—जैसे चरित्र, कार्य आदि—से प्रधान होते हैं और जिन्हें हम घटना-प्रधान कहानियाँ भी कह सकते हैं, द्विवेदी-युग में अपेक्षाकृत कम लिखी गईं। इस प्रकार की कहानियों में वस्तु की ही प्रधानता रहती थी—चरित्रों के विकास की ओर ध्यान न देकर घटनाओं को रोचक और कुतूहलपूर्ण बना कर पाठकों के मनोरंजन करने की चेष्टा की जाती थी। विविध परिस्थितियों और प्रसंगों का उल्लेख अधिक होने के कारण इस प्रकार की कहानियाँ साधारण कोटि की समझी जाती हैं।

(४) *कार्य-प्रधान*—कथानक-प्रधान कहानियों से मिलती-जुलती कुछ कार्य-प्रधान कहानियाँ भी प्रारम्भिक वर्षों में लिखी गईं, जिनमें चरित्र और घटनाओं की अवहेलना कर पात्रों के कार्यों पर अधिक जोर दिया जाता था। पात्रों के द्वारा साहसिक कार्य करवाना ही इन लेखकों का लक्ष्य रहा। प्रायः सभी जासूसी कहानियाँ इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं, जिनमें लेखक जासूसों की विस्मयकारी निपुणताओं में ही तन्मय रहता है। जासूसी उपन्यास लेखक ऐसी कहानियाँ लिखने में

सिद्धहस्त थे, जिनमें गोपालराम गहमरी, दुर्गाप्रसाद खत्री, मथुराप्रसाद खत्री, जी० पी० श्रीवास्तव आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

(५) *हास्य-प्रधान*—द्विवेदी युग में हास्य-प्रधान कहानियों का अभाव रहा। ऐसी कहानियाँ जिनमें शिष्ट और सभ्य हास्य के दर्शन हो जायँ, उस युग में तो क्या आज भी देखने को नहीं मिलतीं। लेकिन फिर भी द्विवेदी-युग में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट, प्रेमचंद आदि के द्वारा यह कार्य होता रहा। जी० पी० श्रीवास्तव की सर्वप्रथम कहानी 'पिकनिक', जैसा कि उल्लेख कर चुके हैं, हास्य-प्रधान ही थी। उनका एक सँग्रह 'लम्बी दाढ़ी' के नाम से प्रकाशित हुआ, लेकिन एक तो उसमें अति-नाटकीय प्रसंगों की भरमार है, दूसरे हास्य निम्न कोटि का है। प्रेमचंद ने मोटेराम शास्त्री को ले कर कुछ अच्छी कहानियाँ अवश्य लिखीं, जिनमें 'सत्याग्रह' सब से अधिक प्रसिद्ध है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि किसी अन्य लेखक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया!

(६) *ऐतिहासिक*—ऐतिहासिक कहानियाँ किसी से छिपी नहीं, जिनमें इतिहास की तरह घटनाओं की क्रमबद्धता के साथ-साथ कथानक में प्रभावोत्पादकता लाने के लिए कल्पना का आरोप किया जाता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति वृन्दावनलाल वर्मा ने इस क्षेत्र में भी विशेष ख्याति प्राप्त की। उनकी 'राखीबंद भाई', 'तातार और एक वीर राजपूत' तथा प्रसाद की 'ममता' ऐतिहासिक कहानियों में सफल कार्य हैं। प्रेमचंद ने 'वज्रपात' और 'रानी सारंधा', चतुरसेन शास्त्री ने 'भिक्षुराज' तथा सुदर्शन ने 'न्याय-मंत्री' नामक कहानियाँ लिखीं जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं के साथ कल्पना का सुन्दर सामञ्जस्य देखने को मिलता है। लेकिन खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हास्य-प्रधान

कहानियों की भाँति इस ओर भी अन्य लेखकों ने कोई ध्यान नहीं दिया।

(७) *प्राकृतवादी*—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री ने प्राकृतवादी उपन्यासों की सृष्टि कर अश्लील, लज्जाप्रद तथा घृणास्पद बातों को कलात्मक ढंग से चित्रित करना आरम्भ कर दिया था। आगे चल कर वे अपने इस प्राकृतवाद को अपनी कहानियों में भी स्थान देने लगे। उनमें कला-पक्ष के तो समस्त गुण विद्यमान हैं, पर पात्र अधिकाँश में वेश्याएँ, विधवाएँ, भिखमंगे और गुण्डे ही हैं, जिनके द्वारा कुरुचिपूर्ण कार्य कराये जाते हैं। उनकी कहानियों के साथ हम पाठकों की कोई सद्भावना नहीं, लेकिन जहाँ तक उनकी सुन्दरता तथा सत्यता, सजीवता तथा यथार्थता और चरित्र-चित्रणता तथा शैली की कुशलता का सम्बन्ध है हम लोग उनका लोहा अवश्य मानते हैं।

(८) *प्रतीकवादी*—द्विवेदी-युग में कुछ प्रतीकवादी कहानियों को नहीं भूल जाना चाहिए, यद्यपि इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। इस प्रकार की कहानियों में किसी वस्तु को मानवीकरण का रूप दिया गया। इनमें विविध वस्तुएँ भिन्न-भिन्न भावनाओं की प्रतीक हो कर हमारे सामने आती हैं। ऐसी कहानियों में कवित्त्वपूर्ण शैली की आवश्यकता होती है, इसलिए इस युग के ऐसे लेखकों ने जो इस विद्या में प्रवीण थे, इस ओर अधिक ध्यान दिया। रायकृष्णदास ने 'कला और कृत्रिमता' तथा प्रसाद ने 'कला' नामक कहानियाँ लिखीं।

कहानी की जिन-जिन विविध शैलियों का जन्म हुआ, वे इस प्रकार हैं:—

(१) *साधारण वर्णनात्मक शैली* (Descriptive)—सबसे आसान, सीधी और साधारण शैली यही है, जिसके अनुसार लेखक

इतिहासकार की भाँति कथा कहता जाता है। वह पात्रों तथा घटनाओं की शृङ्खला तैयार कर उन्हें खिलाता है और स्वयं कथानक के परदे की ओट में सारी बातें सुनाता रहता है। प्रकृतिवर्णन, मानसिक अन्तर्द्वंद, वातावरण आदि के समय इसी शैली को अपनाया जाता है। अधिकांश लेखकों ने इसी शैली में अपनी कहानियाँ लिखी हैं।

(२) *आत्म-चरित शैली* (Autobiographical)—इसके अनुसार लेखकों ने प्रथम पुरुष में अपनी कहानियां लिखीं और अपने को कहानी के किसी पात्र से सम्बद्ध कर दिया। वह स्वयं 'मैं' के रूप में कहानी में खड़ा होता है और जीवन-चरित्र की भाँति सब कुछ कहता जाता है। सुदर्शन की 'अंधेरी दुनिया' इसी शैली में लिखी गई है।

(३) *संलाप-शैली* (Conversational)—इसके अनुसार कथानक और चरित्र का विकास वार्तालाप के द्वारा किया जाता है। इस शैली की कहानियों का आरम्भ प्रायः दो पात्रों की बातचीत से होता है। बीच-बीच में पात्रों तथा परिस्थितियों की जानकारी के लिए लेखक पाठकों को वर्णन देता जाता है। कौशिक की 'ताई' इसी शैली में लिखी गई है। कौशिक इस शैली के मास्टर हैं।

(४) *पत्र-शैली* (Epistolatory)—इसके अनुसार लेखक सारी घटनाएं पात्रों अथवा डायरी के पृष्ठों के द्वारा प्रकाशित करता है। उसमें कहानी की सारी बातें पत्रों के या अवतरणों के रूप में पाई जाती हैं और वे उन्हीं पत्रों में आदि से लेकर अन्त तक जुड़ी हुई रहती हैं। सुदर्शन की 'बलिदान', प्रसाद की 'देवदासी' तथा राधिकारमणसिंह की 'सुरबाला' नामक कहानियाँ इसी शैली में लिखी गई हैं।

(६) नाटक

द्विवेदी-युग के आरम्भिक वर्षों के अराजकता-काल में

भारतेन्दु-युग की यही धारा प्रवाहित होती रही और सन् १६००-१६१२ ई० तक उसमें कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता।

सन् १६१२ ई० में बदरीनाथ भट्ट के 'कुरु-वन-दहन' नामक नाटक से मौलिक नाटकों का सूत्रपात हुआ। अब तक के नाटकों में ऐसा कोई नाटक नहीं था, जिसमें कथानक के सौंदर्य, संगीत, रस-भाव, चरित्र-चित्रण, हास्य आदि का सम्यक् योग देखने को मिलता हो। पंडित माधव शुक्ल के 'महाभारत' (१६१५) नामक नाटक के द्वारा भी नाट्यकला का उल्लेखनीय विकास हुआ। सबसे उत्तम बात यह है कि वार्तालाप पात्रों के अनुकूल बन पड़ा है। मिश्रबन्धु का 'नेत्रोन्मीलन' भी एक ऐसा ही नाटक है। इनके पश्चात् माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (१६२२) और बदरीनाथ भट्ट ने 'दुर्गावती' नामक नाटक लिखे, जिनमें अच्छे नाटकों के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से गोविन्दवल्लभ पन्त का 'वरमाला' एक प्रशंसनीय नाटक है, जिसमें कवित्वपूर्ण वातावरण के साथ-साथ सुन्दर-सुन्दर गानों की वृष्टि कराई गई है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन नाटकों की प्रमुख विशेषता है। इनके अतिरिक्त इस समय के लेखकों में जयशंकरप्रसाद एक महान् नाटककार के रूप में हमारे सामने आते हैं।

द्विवेदी-युग के नाट्य-साहित्य को सुविधापूर्वक समझने के लिए हम उसे नौ भागों में विभाजित कर सकते हैं:—(१) कृष्ण-चरित्र पर लिखे गये नाटक (२) संत-चरित्र पर लिखे गये नाटक (३) प्रेमलीलापूर्ण रोमांचकारी नाटक (४) पौराणिक नाटक (५) ऐतिहासिक नाटक (६) सामयिक और राष्ट्रीय नाटक (७) सामाजिक नाटक (८) व्यंग्य-विनोद पूर्ण नाटक और (९) प्रतीकवादी नाटक। आगे इन्हीं के अनुसार नाटकों का अध्ययन किया जायगा।

(१) *कृष्ण-चरित्र* :—द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक वर्षों में कृष्ण-चरित्र को लेकर थोड़े से नाटक लिखे गये, जिनके प्रायः दो रूप देखने को मिलते हैं। एक का सम्बन्ध व्रज से है, दूसरे का द्वारिका से। ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि इस प्रकार के नाटकों में नाटकीयता बहुत ही कम है। इनमें प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। इन नाटकों का प्रधान उद्देश्य धर्मप्रचार था। आगे चल कर इस प्रकार के नाटक कम लिखे गये।

(२) *संत-चरित्र*—प्रारम्भिक वर्षों में कृष्ण-चरित्र के साथ कुछ संत-चरित्र नाटक भी लिखे गये। संत-पुरुषों का कथानक होता था। इनका उद्देश्य भी धार्मिक होता था। इनमें नाटकीय गुणों का निर्वाह सुन्दर रूप से नहीं किया गया है। यह धारा भी आगे चल कर धीरे-धीरे मन्द पड़ गई।

(३) *प्रेमलीलापूर्ण रोमांचकारी*—अय्यारी, तिलिस्मी तथा जासूसी उपन्यासों की तरह इनमें भी प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेम-प्रसंग देखने को मिलते हैं और दुस्तर कार्य कराये जाते हैं। नायक सब प्रकार की कठिनाइयों का निर्भीकता से सामना करता है और अन्त में अपनी प्रेमिका को पाने में सफल होता है। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें प्रेम का चित्रण भारतीय ढंग पर न होकर फ़ारसी ढंग पर होता था। इनमें दैवी घटनाओं और प्रसंगों की प्रधानता है। नाटककार की दृष्टि केवल एकमात्र रोमांचकारी और उत्तेजक दृश्यों की सृष्टि करने की ओर लगी रहती है। भाषा अश्लील और कुरुचिपूर्ण होती थी। स्वाभाविकता तो कहीं देखने को ही नहीं मिलती। लेकिन इनमें केवल एक अच्छी बात यह है कि सच्चे और पवित्र प्रेम की अन्त में सदैव विजय दिखलाई गई है।

(४) *पौराणिक*—पौराणिक नाटकों की कथा-वस्तु पुराणों

और 'अजातशत्रु' प्रसाद के प्रख्यात ऐतिहासिक नाटक हैं। इनमें उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटकों के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। उनके नाटकों में एक ऐसा स्पष्ट संघर्ष अथवा अंतर्द्वन्द्व है, जो उस युग के किसी भी नाटककार में नहीं पाया जाता। प्रसाद अपने नाटकों के प्रथम दृश्य में ही इस संघर्ष की ओर संकेत कर देते हैं, फिर उसी संघर्ष का विस्तार शेष नाटक में होता जाता है। प्रसाद के नाटकों पर पाश्चात्य स्वच्छंदवाद का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि उनका कथानक सदैव उलझा हुआ रहता है। पाठक उसमें खोया-खोया-सा रहता है, उसके रहस्य को नहीं समझ पाता। प्रसाद के नाटकों की सबसे बड़ी सफलता उनका सुन्दर और अद्वितीय चरित्र-चित्रण है। नाटककार की दृष्टि मानव-जीवन की साधारण और तुच्छ बातों पर न जाकर जीवन की गूढ़ समस्याओं की ओर गई है। चरित्र-चित्रण आदर्शवादी है। उनकी शैली कवित्वपूर्ण है और भाषा का झुकाव तत्सम शब्दों की ओर अधिक है। नाटकों का वातावरण काव्यमय है, जिसने उनके नाटकों की शोभा बढ़ा दी है। प्रसाद ने अपने नाटकों में जो गीत रक्खे हैं वे सर्वदा उपयुक्त हैं और उनसे संगीत का सा आनन्द मिलने लगता है। संक्षेप में, उनके ये नाटक इतने उच्चकोटि के हैं कि साधारण जनता द्वारा अभिनय नहीं किये जा सकते। दोष है तो केवल एक यही, शेष सभी गुण ही गुण हैं। प्रसाद के इन ऐतिहासिक नाटकों की ये विशेपतायें हमें सुदर्शन कृत 'अंजना' तथा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'महात्मा ईसा' में भी देखने को मिलती हैं। इन दोनों लेखकों पर भी स्वच्छंदवाद (Romanticism) का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

(६) *सामयिक और राष्ट्रीय*—इस प्रकार के नाटकों में देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विवशताओं का चित्रण रहता था। ये नाटक जो कुछ भी हमें दिखाई देते हैं,

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने सन् १६०८ ई० में एक वैज्ञानिक कोष प्रकाशित कराया। इसमें भूगोल, ज्योतिष, गणित, अर्थ-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन और दर्शन के प्रायः सभी शब्दों का हिन्दी-रूपान्तर देखने को मिलता है। इलाहाबाद की 'विज्ञान-परिषद्' ने भी हिन्दी में विज्ञान की पुस्तकें प्रकाशित कराईं। कानून सम्बन्धी 'इंडियन पीनल कोड' का 'ताजीरात हिन्द' के नाम से हिन्दी अनुवाद भी इसी समय हुआ। आगे चलकर लेखकों की दृष्टि भूगोल की ओर गई। भूगोल के अनन्तर इतिहास लिखने की परम्परा चली। इस दिशा में कर्नल जेम्स टाड ने अच्छा कार्य्य किया। बाद में श्यामविहारी मिश्र और शुकदेव विहारी मिश्र (मिश्रबंधुओं) ने 'भारतवर्ष का इतिहास' दो भागों में और जापान तथा रूस का इतिहास लिखा। इसी प्रकार मन्नन द्विवेदी ने 'मुसलमानी राज का इतिहास' लिखा। महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस दृष्टि से अथक परिश्रम किया। उन्होंने 'सोलंकियों का इतिहास' और 'उदयपुर का इतिहास' तीन भागों में प्रकाशित कराया।

द्विवेदी-युग में कुछ जीवन-चरित्र भी लिखे गये जिन में पूर्ववर्ती सब दोष दूर कर दिये गये। पश्चिमी साहित्य के अवलोकन से लोगों ने जीवन-चरित्र-कला को पूर्णरूप से समझ लिया था, इसलिये उन्होंने उनका अनुकरण अधिक किया। जीवन-चरित्रों में सत्य की मात्रा बढ़ने लगी और महापुरुष का जीवन वैज्ञानिक रीति से लिखा जाने लगा। पंडित माधवप्रसाद मिश्र की 'विशुद्ध चरितावली', बाबू शिवनन्दनसहाय के 'बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित', 'गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित' तथा 'चैतन्य महाप्रभु का जीवन-चरित', पंडित किशोरी-लाल गोस्वामी के 'राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद

सितारे हिन्द के जीवन-चरित', बाबू राधाकृष्णदास का 'हरिश्चन्द्र जी का जीवन-चरित्र', रामनारायण मिश्र का 'महादेव गोविन्द रानाडे' और माधव मिश्र का 'विशुद्धानन्द चरितावली' इस काल के कुछ प्रमुख जीवन-चरित हैं।

अनुवाद का कार्य्य उतना जोरों से नहीं चला, जितना कि भारतेन्दु-युग में, क्योंकि इस युग के लेखकों ने मौलिक साहित्य सृजन करने की ओर अधिक ध्यान दिया। इसलिए अनुवादित गद्य जो कुछ भी हमें देखने को मिलता है, वह केवल आरम्भिक वर्षों ही में। सन् १९००-१९०६ ई० तक जो अनुवाद हुए, वे प्रधानतः संस्कृत, बंगला, मराठी, उर्दू और अंग्रेजी गद्य के अनुवाद थे। निबन्धों के क्षेत्र में दो अनुवाद-ग्रन्थ प्रकाशित हुए। पहला पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'बेकन-विचार-रत्नावली' है। दूसरा पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'निबन्धमालादर्श' नामक ग्रंथ है। बाद में नाटकों में बंग भाषा के जो अनुवाद किये गये उनकी भाषा शुद्ध हिन्दी है और मूल भावों को सही ढंग से व्यक्त किया गया है। अंग्रेजी नाटकों का भी अनुवाद हुआ, जिनमें गोपीनाथ पुरोहित एम०ए० ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया।

नाटकों की ही भाँति अनेक उत्कृष्ट कोटि के उपन्यास हिन्दी में लाये गये। गोपालराम गहमरी ने बंग भाषा के कई गार्हस्थ्य उपन्यासों के अनुवाद किये जिनमें भाषा चटपटी, वक्रतापूर्ण और मनोरंजक है। इस युग में बंग भाषा के प्रायः समस्त श्रेष्ठ उपन्यासकारों के उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद भी किया गया। रवीन्द्र बाबू के 'आँख की किरकिरी' का अनुवाद भी इसी समय हुआ। इन सब के अनुवादों का श्रेय पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पंडित रूपनारायण पाण्डेय को है। इन अनुवादित गद्य-ग्रन्थों ने मौलिक गद्यकारों को विशेष सहायता पहुँचाई और

उन्हें लिखने के लिए प्रेरित किया, इतना हमें अवश्य मानना पड़ेगा।

सामयिक पत्र-पत्रिकाएं:—हिन्दी-गद्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा पर्याप्त सहायता मिली। साहित्य को शिक्षित जनता की वस्तु बनाने का श्रेय इन्हीं को है। इनके द्वारा ही गद्य की अनेकानेक समस्याएँ हल होती गईं। भाषा की अस्थिरता का विकट प्रश्न जो द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक वर्षों में दृष्टिगत होता है, पत्र-पत्रिकाओं के ही द्वारा सुलझाया गया। इन सब पत्रों में ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि 'आज' और 'प्रताप' (दैनिक) सब पत्रों में उत्तम थे। प्रायः सभी साहित्यिक पत्रों द्वारा हिन्दी की सेवा हुई, लेकिन इन सब में द्विवेदी-युग का सर्वश्रेष्ठ और लोकप्रिय मासिक पत्र 'सरस्वती' था, जिसके द्वारा द्विवेदी जी के सम्पादन-काल में गद्य का इतना प्रसार हुआ। हिन्दी-गद्य के धुरन्धर विद्वानों के निबन्ध, कहानियाँ, समालोचनाएँ आदि का प्रकाशन इसी में होता था। इन मासिक पत्रों की भाषा विशुद्ध हिन्दी थी। व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ हटाने का श्रेय इन्हीं पत्रों को है। इनसे ही हिन्दी-गद्य सीमित वर्ग से बाहर निकल कर व्यापक होने लगा। प्रचलित देशज शब्दों का प्रयोग कर इन पत्रों ने भाषा को एक व्यावहारिक रूप दिया। इन पत्रों के सम्पादक बड़े ही योग्य और अनुभवी थे। अन्य पत्रों के सम्बन्ध धर्म, राजनीति तथा जातीय संस्थाओं से होने के कारण गद्य में कोई सहायता नहीं मिलने पाई। इनका ध्यान भाषा की शुद्धता की ओर न जा सका।

इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त जनसाधारण की सहायता के लिए हिन्दी कोष भी तैयार किये गये। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने हिन्दी-शब्द-सागर चार खंडों में प्रकाशित कर

हिन्दी-पाठकों की कठिनाइयों को दूर कर दिया। इसके बाद गौरी-नागरी-कोष, श्रीधर-भाषा-कोष, शब्दार्थ-पारिजात और हिंदी शब्द-कल्पद्रुम आदि कई कोष प्रकाशित हुए, जिनके द्वारा हिंदी का विशेष प्रचार हुआ।

: ६ :

प्रसाद-युग

(सन् १९२५-१९३७ ई०)

सन् १९२५ से लेकर १९३७ ई० तक हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में अनेक उत्कृष्ट कोटि के लेखक हुए, लेकिन उन सब में सब से अधिक साहित्यिक प्रभाव डालनेवाले महान् तपस्वी कलाकार जयशंकरप्रसाद ही हमारे दृष्टि-पथ पर आते हैं, इसलिए इस युग का नाम 'प्रसाद-युग' रक्खा जा सकता है। प्रसाद की प्रतिभा सर्वोन्मुखी है—उनकी लेखनी ने गद्य के प्रत्येक क्षेत्र का अभूतपूर्व विकास किया है, इस दृष्टि से उनका नाम अन्य लेखकों की अपेक्षा और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस युग में जितनी भी रचनाएँ लिखी गईं, उन पर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव पर्याप्त-मात्रा में पड़ा। प्रसाद-युग यथार्थ में साहित्य-निर्माण का युग है। हिन्दी में मौलिक गद्य का सूत्रपात जितना इस युग में हुआ, उतना और किसी युग में नहीं। यदि इस युग को द्विवेदी-युग के अन्तिम सप्त वर्षों के साथ जोड़ दिया जाय, तो हम निःसंकोच कह सकते हैं कि हिंदी-गद्य का वास्तविक इतिहास केवल इस समय के मौलिक गद्य का इतिहास है। यदि यह समय 'स्वर्ण-युग' के नाम से अभिहित किया जाय, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। द्विवेदी-युग में जिन-जिन शैलियों का जन्म हुआ, उनका पर्याप्त विकास इसी युग में देखने को मिलेगा। उस युग के अन्तिम सात वर्षों के लेखक इस युग में बड़े उत्साह के साथ कार्य करते रहे। साथ ही नवीन उत्कृष्ट कोटि के लेखकों

का अभ्युदय हुआ। उनके द्वारा विविध विषयों पर रचनाएँ होने लगीं, जिनमें गद्य के चरम विकास के दर्शन होते हैं। भाषा की व्यंजना-शक्ति में अपूर्व वृद्धि हुई। इन प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों की रचनाओं के प्रभाव से हिन्दी का प्रचार भारत के कोने-कोने में होने लगा। थोड़े समय के भीतर ही वह बहुत लोकप्रिय बन गई। इस प्रकार शनैः-शनैः वह राष्ट्र-भाषा-पद की अधिकारिणी बनने लगी।

(१) निबन्ध

निबन्ध-साहित्य-क्षेत्र में हमारे सन्मुख सर्वप्रथम प्रसाद आते हैं। प्रसाद ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में पाँच कथा-प्रबन्ध लिखे, जो 'चित्राधार' में संगृहीत हैं, लेकिन वे उच्चकोटि के नहीं हैं । चंद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी नामक नाटकों में भूमिका-स्वरूप जो निबन्ध लिखे गये हैं, वे महत्त्वपूर्ण अवश्य हैं। इससे उनके अन्वेषण-कार्य, अध्ययन तथा विद्वत्ता का परिचय मिलता है। वास्तव में उच्च-कोटि के निबन्ध, जो गहन भावों और प्रांजल भाषा से परिपूर्ण हैं, आगे चलकर लिखे गये । इससे पता चलता है कि लेखक ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, त्यों-त्यों उस पर शिक्षा-दीक्षा, व्यक्तिगत चिन्तन, अनुभूति, कल्पना, रुचि, अनुभव आदि का प्रभाव पड़ता गया। निबन्धों का यह क्रमिक विकास हिन्दी-गद्य की प्रत्येक महान् विभूति की रचनाओं में देखने को मिलता है। इस दृष्टि से 'काव्य और कला' नामक संग्रह, जिसमें काव्य और कला, रहस्यवाद, रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरम्भ, रंगमंच, आरम्भिक पाठ्य काव्य तथा यथार्थवाद और छायावाद नामक विषयों पर निबन्ध लिखे गये हैं, बहुत सफल बन पड़ा है। इन निबन्धों की भाषा-

शैली प्रेमचन्द से ठीक विपरीत है। प्रेमचन्द की भाषा व्यावहारिक और चलती हुई है, प्रसाद की शैली में इसका पूर्णरूप से अभाव है। प्रसाद में केवल उर्दू शब्दों का पूर्ण बहिष्कार ही नहीं है, साथ ही हिन्दी के व्यावहारिक शब्दों के स्थान पर भी लेखक की रुचि संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर अधिक है। प्राय: सभी गद्यांगों में उनकी भाषा-सम्बन्धी इसी विशेषता के दर्शन होते हैं। संस्कृत की माधुर्य-पूर्ण पदावली को लेकर उन्होंने अपनी एक नवीन शैली को जन्म दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। न तो वह सरल है, और न दुरूह। मुहावरों का प्रयोग उसमें बिल्कुल नहीं हुआ है। भाषा काव्यमयी है, उसमें अलंकारों और अप्रस्तुतों का अनूठा विधान है। उनके निबन्ध विचारात्मक हैं, जिनमें वाक्य एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। विषय-विवेचन में इनके द्वारा अपूर्व सहायता मिली है। वाक्य न तो बड़े हैं और न छोटे। भावों में सर्वत्र दार्शनिकता झलकती है। निबन्धों में केवल हास्य का अभाव है, अन्यथा वे बहुत ही उत्तम बन पड़े हैं। 'छायावाद' का यह उदाहरण देखिए—

'छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान, तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति—छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।'

उपन्यासों और कहानियों के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने कुछ निबन्ध भी लिखे, जिनके संग्रह 'कुछ विचार', 'क़लम', 'तलवार', और 'त्याग' तथा 'मौ० शेख सादी' प्रकाशित हो चुके हैं। साहित्यिक दृष्टि से 'कुछ विचार' के निबन्ध ही महत्वपूर्ण हैं,

है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है, जिस पर सभी लोग सहमत हों।'

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने साहित्यालोचना से सम्बन्धित कुछ उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध लिखे, जिनके दो संग्रह 'मकरन्द बिन्दु' तथा 'प्रबन्ध-पारिजात' प्रकाशित हो चुके हैं। आपके निबन्धों पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। निबन्ध-शैली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। इस आलोचनात्मक शैली की यह विशेषता है कि वह भावों तथा विचारों पर समान रूप से प्रभाव डालती हुई तथा भावों को उत्तेजित करती हुई उन्हें आगे बढ़ाती रहती है। कहीं-कहीं भावों में गम्भीरता आ जाने के कारण पाठकों को उन की शैली में क्लिष्टता अवश्य देखने को मिले, लेकिन साधारणतः उनके विचार सुलझे हुए रहते हैं, जिनको समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। आपकी व्यंग्यात्मक शैली बड़ी ही मार्मिक होती है। आपके निबन्ध प्रायः विचारात्मक होते हैं और उनका प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। 'नाटक' नामक निबन्ध का यह उदाहरण देखिए—

'हिन्दू-मात्र का यह विश्वास है कि मानव-जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्त्व बतलाने के लिए अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है कि मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है और फिर निष्फलता के खंदक में गिरा देती है।'

श्रीराम शर्मा ने जो निबन्ध लिखे, वे अधिकांश में वर्णनात्मक हैं। आपके इन वर्णनात्मक निबन्धों में हृदय की कोमल वृत्तियों का परिचय मिलता है। उनकी वर्णन-शैली में सजीवता और रोचकता देखने को मिलती है। कहीं-कहीं कवित्वमय प्रसंगों ने उनकी शैली को और भी अनूठी बना दिया है। शिकार-संबन्धी

बन्ध लिखने में आप विशेष प्रवीण हैं। शैलीगत नवीनता था उसकी आकर्षणशक्ति को देखकर पद्मसिंह शर्मा ने एक थान पर लिखा है—'आपकी वर्णन-शैली सजीव, भाव-विश्लेषण-मनोविज्ञान-सम्मत और भाषा विषय के अनुरूप सुघड़ होती है।' प्राकृतिक वर्णनों में तो आपने कमाल कर दिया है। 'स्मृति' नामक निबन्ध में वे लिखते हैं—

'सायंकाल को जब मैं अकेला जंगल से लौटता हूँ तो डूबते हुए सूर्य की किरणें पूर्व की ओर संकेत करती हुई मानो कहती हैं—शैशव-काल में हमारी दृष्टि अपने वर्तमान स्थान की ओर थी, इधर आने को हम उतावली हो रही थीं, पर मध्याह्न के मद के उपरान्त अनुभव हुआ—और अब तो हम विलख रही हैं—कि बाल्य-काल के माधुर्य की पुनः प्राप्ति असम्भव है। ऐ रायफलधारी! शीघ्र ही आयु ढलने पर तू भी हमारी भाँति बाल्य-काल के लिए विह्वल होकर आँसू बहायगा। अच्छा हो, तू अभी से चेते।'

पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भी यदा-कदा निबन्ध लिख लिया करते हैं। 'प्रबन्ध-पद्म' और 'प्रबन्ध-प्रतिमा' आपके दो निबन्ध-संग्रह हैं। इन निबन्धों की शैली कवित्वपूर्ण है। निराला के कवि होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। आपके निबन्ध भावात्मक हैं। उनमें भावों की ओर इतना अधिक ध्यान दिया गया है कि उसमें एक प्रकार की अस्पष्टता आ गई है। भाषा को व्यावहारिक रूप देने के लिए निराला ने अपनी ओर से उर्दू शब्दों और मुहावरों के साथ ही साथ कहीं-कहीं हास्य और व्यंग्य का प्रयोग भी किया है, लेकिन ऐसा करने पर भी ये निबन्ध जन-साधारण की समझ से दूर हैं।

इस युग के नवीन लेखकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भावात्मक तथा विचारात्मक निबन्ध लिख कर केवल थोड़े से समय के भीतर ही विशेष ख्याति प्राप्त कर ली। 'हमारे साहित्य के

निर्माता', 'कवि और काव्य' तथा 'साहित्यिकी' में आपके उच्च-कोटि के निबन्ध संगृहीत हैं। शांतिप्रिय के निबन्धों की प्रमुख विशेषता उनकी क्रमबद्धता है। उनकी दृष्टि 'वाद' के 'विवादों' में न पड़कर लोक-कल्याण के हित की ओर लगी रहती है। उनके निबन्धों में शब्द-चित्र इतने सुन्दर हैं कि हमारे सन्मुख एक चित्र उपस्थित हो जाता है। उन्होंने अपने निबन्धों की पृष्ठभूमि न तो संस्कृत साहित्य से ही ली है और न अंग्रेजी साहित्य ही से, उन्होंने अपनी मननशीलता एवं बौद्धिक स्तर के द्वारा आलोचना के आदर्श स्थापित किये हैं। उनकी विवेचन-शैली ऐसी है जो साहित्य के प्रायः समस्त पहलुओं को स्पर्श करती हुई चलती है। शान्तिप्रिय ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर जितने अधिक निबन्ध लिखे हैं, उतने और किसी ने नहीं। अतः ये आज के प्रत्येक विद्यार्थी के परम मित्र से बन गये हैं। शुक्ल की तरह उनमें विचारों की गहराई नहीं, फिर भी एक नवीन शैली में विचारों को प्रकट करने की अद्भुत शक्ति है, यह हमें मानना पड़ेगा। उनकी विवेचना-शैली, उनके शब्द-चित्र और उनके सौंदर्यशाली भावों ने उन्हें एक सफल निबन्ध-लेखक बना दिया है। संक्षेप में, हमारे प्राचीन निबन्ध-लेखकों के अभावों की पूर्ति करनेवाले लेखकों में शांतिप्रिय द्विवेदी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी गद्य-शैली का एक नमूना देखिए—

'काव्य-जगत् में प्रकृति भी हमारी पारिवारिक है, हमारी वाटिका के खग-मृग, पुष्प-भवन और छाया-प्रकाश के निखिल रूप में। मनुष्य के जीवन में काव्य है, संगीत है, सौन्दर्य है। प्रकृति में भी यह सब कुछ है, इसलिये विश्व-जीवन के साथ उसका ऐक्य है, पारिवारिक सौख्य है।'

शांतिनिकेतन के हिन्दी-अध्यापक हजारीप्रसाद द्विवेदी ने समालोचना-क्षेत्र की तरह निबन्ध-जगत् में भी अपने लिए एक

विशेष स्थान बना लिया। विचारात्मक निबन्ध-लेखकों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी भाषा, भाव और विचार प्रकट करने की शैली में एक ऐसा अनूठा मेल है कि पाठक का ध्यान इनके विषय की ओर स्वयं ही आकर्षित हो जाता है। आपकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, कहीं-कहीं अत्यन्त प्रचलित देशज शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। भाषा संस्कृत-प्रधान होने पर भी श्यामसुन्दरदास की तरह उसमें अव्यावहारिकता नहीं आने पाई है। भाषा सरल है और विषयों के अनुकूल ही अपना रूप बदलती रहती है। मुहावरों का प्रयोग आपने नहीं किया है। आपके निबन्धों से गम्भीर अध्ययन और तार्किक बुद्धि का परिचय मिलता है। कहीं-कहीं अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग से शैली की प्रभावोत्पादकता बढ़ गई है। छोटे और बड़े दोनों वाक्यों पर आपका समानाधिकार है। विचार-विवेचन के स्थल पर मिश्र-वाक्य और भाव-पुष्टि के समय सरल वाक्यों का प्रयोग किया गया है। 'नवीन कविता की कुछ विशेषताएँ' नामक निबन्ध का एक उदाहरण देखिए—

'कविता का आदर्श भूलकर कविगण काव्यानन्द को ठीक उसी प्रकार का आनन्द समझने लगे जिस प्रकार का किसी सजे कमरे, नक्काशी, बेल-बूटे आदि को देखने से होता है। अतः वे युक्तियों के अनूठेपन और व्यंजना के वैचित्र्य को ही साध्य समझने लगे। भाव की सचाई, वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण की ओर उनकी दृष्टि न रही। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अप्रस्तुत-रूपविधान में ही कल्पना का प्रयोग होने लगा। यह प्रवृत्ति योरप से भारत में आई है, जिससे सबसे पहले बँगला-साहित्य प्रभावित हुआ और बँगला की नकल से हिन्दी-कविता में भी ये ही बातें आ गई हैं।'

प्रसाद-युग में हरिभाऊ उपाध्याय, स्वामी सत्यदेव और देवशर्मा 'अभय' के निबन्ध भी विशेष महत्व के हैं। हरिभाऊ

के निबन्ध तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक विचार-धाराओं से सम्बन्धित हैं। इनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। 'बुद्बुद्' में ऐसे निबन्ध ही पाये जाते हैं। स्वामी सत्यदेव ने इस युग में अनेक जोशीले लेख लिखे, जिनमें उनके राष्ट्रीय विचार देखने को मिलते हैं। भाषा ओजस्विनी है। देवशर्मा 'अभय' के निबन्ध विचार-प्रधान हैं, जो स्वच्छन्द प्रणाली पर लिखे गये हैं। इसी प्रकार फुटकर लेखकों में जैनेन्द्रकुमार के 'जैनेन्द्र के विचार', रघुवीरसिंह के 'बिखरे फूल', माधव मिश्र के 'निबन्ध माला' आदि संग्रहों के नाम लिये जा सकते हैं, जिनमें जीवन की विविध समस्याओं पर विचार प्रकट किये गये हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, रूपनारायण पांडेय, रामचन्द्र वर्मा, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, इलाचंद्र जोशी, माधवराव सप्रे आदि लेखक भी पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध लिखते रहते थे, जिनके द्वारा निबन्ध-साहित्य धनी हो गया।

निबन्ध-साहित्य का वह रूप जो गद्य-गीत के नाम से पुकारा जाता है, प्रसाद-युग में आकर विशेष उन्नति करने लगा। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि इस दिशा में विशेष कार्य करते रहे। इस प्रकार कवित्वमय निबन्धों का पर्याप्त विकास होने लगा। इन लेखकों की गद्य-शैली से हम पूर्व-परिचित हैं, अतः यहाँ उनके गद्य-गीतों के संग्रह का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। रायकृष्णदास के 'छायापथ' और हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' के 'प्रार्थना' तथा 'ठंडे छींटे' आदि संग्रहों में इस प्रकार के निबन्धों का पूर्ण विकास देखने को मिलता है। उनकी शैली के अनुकरण पर कुछ अन्य लेखकों ने भी इस क्षेत्र में कार्य्य करना आरम्भ किया, जिनमें सद्गुरुशरण अवस्थी का 'भ्रमित पथिक', दुर्गाशंकरप्रसादसिंह का 'ज्वालामुखी', और शांतिप्रसाद वर्मा का

'चित्रपट' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों के निबन्धों में भी रहस्यवादी तथा छायावादी भावनाओं का चित्रांकन हुआ है। कहीं-कहीं देश की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दुर्बलताओं की ओर व्यंग्य कसे गये हैं, तो कहीं देश के पुनरुत्थान के लिए इन लेखकों ने ईश्वरीय वन्दना भी की है। इस प्रकार के गद्य-गीतों से हमारे निबन्ध-साहित्य को एक नूतन गति मिली, उसकी शैली में स्फूर्ति और जीवन का संचार हुआ।

हास्य-प्रधान निबन्धों की पहले की अपेक्षा उन्नति अवश्य हुई, लेकिन फिर भी यह कहना पड़ेगा कि उसकी इतनी उन्नति नहीं हो पाई जितनी अन्य अंगों की। हास्य-रसात्मक निबन्धों में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (विजयानंद दुबे) और अन्नपूर्णानन्द का स्थान सब से ऊँचा है। कौशिक के 'दुबेजी की चिट्ठी' और 'दुबेजी की डायरी' का हिंदी-संसार ने विशेष आदर किया है। इन निबन्धों का सम्बन्ध प्रधानतः देश की सामाजिक अवस्था से है, जिनमें व्यंग्य की मात्रा अधिक है। उनका हास्य केवल हास्य ही नहीं, वरन् व्यंग्य-प्रधान होता है। शुद्ध हास्य को लेकर कौशिक ने ऐसे निबन्ध बहुत ही कम लिखे हैं। अन्नपूर्णानन्द एक ऐसे लेखक हैं, जिनमें हमें शुद्ध हास्य देखने को मिलता है। शैली सरल और सुबोध है। संलाप-शैली में तो लेखक अपने समकालीन बहुत से लेखकों को पीछे छोड़ जाता है। यहाँ विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'दुबेजी की संपादकी' का एक उदाहरण देखिए—

'अच्छी बात है। तो बस आप मनोरंजन ही लिखिये। पर ऐसा लिखियेगा कि जिसको पढ़कर मुझे भी हँसी आ जाय।'

'मैं ऐसा मनोरंजन लिख सकता हूँ कि जिसको पढ़कर गधे तक हँसने लगें, आप तो कोई चीज़ नहीं हैं। परन्तु आपको कभी हँसी आती भी है?'

कुमार वर्मा के 'कबीर का रहस्यवाद', हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'सूर-साहित्य', श्यामसुन्दरदास के 'गोस्वामी तुलसीदास', डा०माता-प्रसाद गुप्त के 'तुलसी-सन्दर्भ', विश्वनाथप्रसाद मिश्र के 'बिहारी की वाग्विभूति' तथा गंगाप्रसादसिंह के 'पद्माकर की काव्य-साधना' आदि ग्रंथों का नाम चिरस्मरणीय है। यही नहीं, तुलसी जैसे कवि पर उसकी समग्र कविता सम्बन्धी विशेषताओं पर आलोचनाएँ न लिखी जाकर उसके केवल एक पक्ष को लेकर ही गहन विचार किया जाने लगा। इस दृष्टि से विश्वेश्वरदत्त शर्मा के 'मानस-प्रबोध' जिसमें केवल भाषा पर विचार प्रकट किये गये हैं, और बलदेवप्रसाद मिश्र के 'तुलसी-दर्शन' का जिसमें कवि के आध्यात्मिक विचारों का दिग्दर्शन कराया गया है, स्थान बहुत ऊँचा है। इस प्रकार और भी अनेक लेखकों ने स्वतन्त्र अथवा भूमिका-स्वरूप आलोचनाएँ लिखीं। रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी, सूर और जायसी पर जो सुन्दर समालोचनाएँ लिखकर हिंदी-गद्य के लिए एक नया क्षेत्र खोला था उसका विकास इन लेखकों के द्वारा द्रुत-गति से होने लगा।

पुराने कवियों की ही तरह इस समय के कवियों तथा लेखकों पर भी भूमिका तथा स्वतंत्र दोनों रूपों में पर्याप्त समालोचनाएँ लिखी गईं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के 'भारतेन्दु साहित्य', ब्रज-रत्नदास के 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', श्यामसुन्दरदास के 'राधा-कृष्ण ग्रन्थावली' तथा प्रभाकर माचवे के 'जैनेन्द्र के विचार' आदि संकलित ग्रन्थों पर लिखी गईं भूमिकाएँ बड़े काम की हैं, जिन में मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार प्रकट किये गये हैं। इसी प्रकार स्वतन्त्र रूप से ब्रजरत्नदास ने 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', रामचन्द्र शुक्ल ने 'राधाकृष्णदास', कृष्णशंकर शुक्ल ने 'कविवर रत्नाकर', बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'कविरत्न सत्यनारायण जी', गिरिजादत्त शुक्ल ने 'गुप्त जी की काव्य-धारा', रामकृष्ण 'शिलीमुख' ने

'प्रसाद की नाट्य-कला', गुलाबराय ने 'प्रसाद जी की कला', जनार्दनप्रसाद झा ने 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला', नगेन्द्र ने 'सुमित्रानन्दन पन्त' तथा मोहनलाल महतो वियोगी ने 'धुंधले चित्र' नामक समालोचनाएँ लिखीं, जिनको पढ़कर चित्त प्रसन्न होने लग जाता है। इस प्रकार की पुस्तकों के द्वारा समालोचना-साहित्य का जो विकास हुआ, उसका अनुमान लगाना कठिन है।

समालोचना-साहित्य के ही अन्तर्गत प्रसाद-युग में साहित्य के सामान्य इतिहास भी लिखे गये, जिनमें हमें विद्वान् लेखकों की विविध खोजों और तीक्ष्ण-बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है। साहित्य के सामान्य इतिहासों के साथ-साथ उसके विशेष अंगों पर भी विस्तृत एवं महत्वपूर्ण इतिहास लिखे गये। इससे हिंदी-गद्य तथा समालोचना-साहित्य दोनों की भरपूर उन्नति हुई। साहित्य के विशेष अंगों को लेकर जो इतिहास प्रस्तुत किये गये, वे अधिकांश में भूमिका-स्वरूप ही लिखे गये, लेकिन सामान्य इतिहासों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इस युग के मुख्य-मुख्य इतिहास जो भाषा, भाव आदि की दृष्टि से सफल बन पड़े हैं, इस प्रकार हैं—रामचन्द्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास', जगन्नाथप्रसाद शर्मा का 'हिंदी गद्य-शैली का विकास', रमाशंकर शुक्ल का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', श्यामसुन्दर-दास का 'हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास' और कमलधारीसिंह का 'मुसलमानों की हिंदी सेवा' आदि-आदि। इस प्रकार वास्तविक हिन्दी साहित्य के इतिहासों का लिखा जाना इसी युग में प्रारम्भ हुआ।

प्रसाद-युग के समालोचना-साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि मिश्रबन्धुओं की समालोचनाओं से 'तुलनात्मक समा-

(३) नाटक

इस युग में द्विवेदी-युग के नाटकों की विभिन्न धारायें समानान्तर रूप से चलती रहीं। राम-चरित्र को लेकर गोविन्ददास ने 'कर्त्तव्य', पौराणिक कथाओं को लेकर जमुनादास मेहरा ने 'श्रीवत्स' तथा 'सती-चिन्ता', कामताप्रसाद गुरु ने 'सुदर्शन' और उदयशंकर भट्ट ने 'अम्बा', 'सगर-विजय' तथा 'मत्स्यगंधा', संत-चरित्र को लेकर जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'तुलसीदास', देश की विविध समस्याओं को लेकर पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'डिक्टेटर' तथा गोविन्दवल्लभ पंत ने 'अंगूर की बेटी', हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चार बेचारे', गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने 'भूल-चूक', 'लाल बंदर', 'चोर के घर छिछोर' तथा 'साहित्य का सपूत', बद्रीनाथ भट्ट ने 'मिस अमेरिकन' और सुदर्शन ने 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' नामक नाटक लिखे। इस क्षेत्र में सब से अधिक ख्याति जयशंकर-प्रसाद ने प्राप्त की। उनके 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'स्कन्दगुप्त', 'विशाख', 'ध्रुव स्वामिनी' आदि ऐतिहासिक नाटकों में हमें उनकी नाट्य-कला का चरम विकास देखने को

मिलता है। इनमें प्राचीन भारतीय संस्कृति का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। चरित्र-चित्रण, दृश्य, कथोपकथन, सिद्धांत आदि की दृष्टि से प्रसाद के नाटक हिंदी-साहित्य में बेजोड़ हैं। उनकी कवित्वपूर्ण शैली का 'ध्रुव स्वामिनी' से एक उदाहरण देखिए, कितना सुन्दर है:—

'कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन! कितने सन्तोष से भरा था! नियति ने अज्ञातभाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन से सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो। (ठहरकर) जिस वायु-विहीन प्रदेश में उखड़ी हुई साँसों पर बन्धन हो—अर्गला हो, वहाँ रहते-रहते यह जीवन असह्य हो गया था, तो भी मरूँगी नहीं! संसार में कुछ दिन विधाता के विधान मे अपने लिए सुरक्षित करा लूँगी। कुमार! तुमने वही किया जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूँ। ओह, (हृदय पर उँगली रख कर) इस वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या? जब अन्तरंग 'हाँ' करना चाहता है तब ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है?'

ऐसे-ऐसे असंख्य उदाहरणों से उनके नाटक भरे पड़े हैं। इनके अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पंत ने इसी समय एक 'ज्योत्स्ना' नामक प्रतीकवादी नाटक लिखा, जिसमें विलास के साधनों द्वारा समाज में उत्पन्न अशांति का प्रकृति के पात्रों को लेकर चित्रण किया गया है। प्रसाद-युग के ये थोड़े-बहुत नाटक यद्यपि संख्या में अधिक नहीं हैं, तथापि विगत युगों की अपेक्षा नाट्य-कला का इनमें सुन्दर विकास हुआ है। प्रसाद, गोविंदवल्लभ पंत बद्रीनाथ भट्ट, उदयशंकर भट्ट आदि के हाथों में पड़ कर नाटक चमक उठे। लेकिन आदर्श रंगमंच के अभाव में उनके अभिनय की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

प्रसाद-युग की नाट्य-कला का एक सुन्दर रूप उन एकांकी

नाटकों में देखने को मिलता है जिनमें जीवन के किसी अंश विशेष पर अधिक महत्व दिया जाता है। कथा-साहित्य में कहानी का जो स्थान है, वही स्थान नाट्य-साहित्य में एकांकी नाटक का है। नाटकों की तरह एकांकियों में जीवन की कोई बृहत् घटना नहीं ली जाती, इनमें तो लेखकों की दृष्टि केवल लक्ष्य की ओर ही लगी रहती है। चन्द्रगुप्त मौर्य पर लिखे जाने वाले बड़े नाटक में नाटककार को जो स्वतंत्रता प्राप्त है, वह एकांकी नाटककार को नहीं; अतः एकांकी नाटक लिखना कोई आसान काम नहीं है। जीवन के किसी मोड़ अथवा चित्र की किसी झलक में ही उसे समूचा सौंदर्य भर देना पड़ता है। एकांकी नाटक हमारे यहाँ नवीन नहीं हैं, पुराने नाट्य-साहित्य में भी एकांकी पाये जाते हैं, लेकिन इनकी परम्परा हमारे यहाँ नवीन अवश्य है। यहाँ इस बात को याद रखना चाहिए कि इस प्रकार के नाटकों का विकास पाश्चात्य एकांकी के अनुकरण पर हुआ है। आरम्भ में इनका प्रकाशन स्फुट रूप से हुआ। धीरे-धीरे आगे चलकर संग्रह-रूप में इनका प्रकाशन होने लगा, जिनमें मोहनसिंह का 'स्वरावली', कैलाशनाथ भटनागर का 'नाट्य-सुधा', भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवाँ', गणेशप्रसाद द्विवेदी का 'सुहाग बिंदी' और रामकुमार वर्मा का 'पृथ्वीराज की आँखें' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रामकुमार वर्मा और भुवनेश्वर प्रसाद के एकांकी बहुत ही उच्चकोटि के हैं। वर्मा जी की भाषा कवित्वमय, प्रांजल एवं कल्पनाप्रधान होती है। उनके नाटकों के पात्र प्रायः काव्य-प्रधान बन गये हैं। नाटक थोड़ी-थोड़ी देर बाद ऐसी करवटें बदलते रहते हैं कि जिनसे पाठकों का चित्त उन पर से हटता ही नहीं। उनके 'दस मिनट' नामक एकांकी का, जो १५ अक्तूबर, १६३४ को प्रयाग-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा अभिनीत हुआ था, यह अंश देखिए:—

'महादेव—(क्रोध से) तुम्हारी बहन को मैली दृष्टि से देखता था वह ? तुमने छुरी कहाँ भोंकी ?

बलदेव—छुरी ? उसकी बग़ल में। यों। (हवा में छुरी का वार करता है)।

महादेव—बग़ल में ? नासमझ ! आँखों में घुसेड़ देनी चाहिए थी। वे पापी आँखें संसार का प्रकाश न देख सकतीं। जिन आँखों में पाप का रक्त था, उन आँखों में बहन के अपमान का रक्त बहना चाहिए था। छिः ! बदला लेना भी न आया। (घूरता है)।'

इसी प्रकार भुवनेश्वरप्रसाद के एकांकी भी बहुत सफल हुए हैं। नाटकों का वातावरण यथार्थ है। पात्रों के कथोपकथन पाठकों के हृदय पर गहरा प्रभाव डालनेवाले हैं। एकांकी नाटकों की यह परम्परा आगे चलकर अधिक विकसित हुई। इस युग में लेखकों का ध्यान इस ओर अधिक नहीं जा सका।

(४) उपन्यास

द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों में, जैसा कि हम देख चुके हैं, उत्कृष्ट कोटि के उपन्यासकारों की अवतारणा हो चुकी थी और साथ ही उपन्यास के कला-रूप एवं विविध शैलियों का भी जन्म हो चुका था। इस युग में आकर उन सब का पर्याप्त विकास हुआ। 'काया-कल्प' से निवृत्त होकर प्रेमचंद ने 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' नामक दो उपन्यास लिखे। 'निर्मला' में विधुर-विवाह से उत्पन्न दुष्परिणाम की ओर संकेत किया गया है। इसमें प्रधान पात्रों का मनोविकास वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। 'निर्मला' एक छोटा-सा सामाजिक उपन्यास है, जिसमें प्रेम और कर्त्तव्य दोनों का समन्वय देखने को मिलता है। इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण सरस और सुन्दर बन पड़ा है। आगे चलकर 'ग़बन' में हमें प्रेमचंद की उपन्यास-

कला का चरम सोपान दिखाई पड़ता है। वह उपन्यास जालपा के आभूषण-प्रेम तथा रमानाथ के मिथ्या अहंकार और आत्म-प्रशंसा पर खड़ा है। कथावस्तु सुगठित और तर्कयुक्त है। अब तक प्रेमचन्द ने जो उपन्यास लिखे उनमें उनकी दृष्टि एकमात्र सुधार की ओर ही लगी रही, लेकिन 'ग़बन', में ऐसी बात नहीं है। 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'ग़बन', में यद्यपि समाज और शासन-व्यवस्था के दुर्बल अंगों की व्यंजना हुई, तथापि इनको पढ़ कर प्रेमचन्द का पाठक इतना अवश्य कहेगा कि इनमें सुधारवादी दृष्टिकोण को प्रधानता नहीं मिल सकी है। लेकिन आगे चलकर विविध राष्ट्रीय आन्दोलनों के फल-स्वरूप उन्हें एक बार पुनः गाँवों की ओर लौटना पड़ा। इसी लिए उन्होंने 'कर्मभूमि' और अन्त में 'गोदान' की रचना की। दोनों में किसानों की दुर्दशा का जीता-जागता चित्रण किया गया है। 'ग़बन' की तरह 'कर्मभूमि' में भी उपन्यास-कला का पूर्णरूपेण निर्वाह किया गया है। प्रेमचन्द ने अपने विगत उपन्यासों द्वारा किसानों के उज्ज्वल जीवन का जो स्वप्न देखना चाहा था, उसके बिखर जाने से गोदान की कथावस्तु भी बिखर गई, पाठकों को उसमें अपूर्णता का आभास मिलने लगा। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से जाँच करने पर विदित होगा कि उप-न्यास-कला की दृष्टि से उनका यह अन्तिम उपन्यास सर्वश्रेष्ठ है। 'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक जो क्रमिक-विकास उनके उपन्यासों में देखने को मिलता है, हिंदी-विद्यार्थी के लिए वह एक रोचक वस्तु है। प्रेमचन्द के इस अन्तिम उपन्यास में हमें उनके चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, भाषा-शैली आदि की पूर्णता दृष्टिगत होती है। एक उदाहरण देखिये—

'वैवाहिक-जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की

सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं, और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है, और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय सन्ध्या आती है, शीतल और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन-भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से, मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जनरव हम तक नहीं पहुँचता।'

प्रेमचन्द के उपरान्त जयशंकरप्रसाद के 'तितली' नामक उपन्यास में प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रभाव देखा जा सकता है। कथा-वस्तु के चयन, उसकी संघटना तथा निर्वाह की दृष्टि से प्रसाद इसमें सफल हुए हैं। लेकिन शैली की दृष्टि से प्रसाद और प्रेमचन्द के उपन्यासों में आकाश-पाताल का अन्तर है। प्रसाद के दोनों उपन्यासों में भाषा का स्वाभाविक रूप हमारे सामने आता है। उनमें मानव-हृदय के मर्मस्पर्शी चित्र सफलतापूर्वक खींचे गये हैं। दृश्य-वर्णन उपस्थित करने में प्रसाद अद्वितीय हैं। प्रसाद का तीसरा अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' है, जो वर्णन-प्रणाली और रमणीयता में किसी की सानी नहीं रखता। वृन्दावनलाल वर्मा ने भी इस युग में कई सामाजिक उपन्यासों की सृष्टि की, लेकिन 'गढ़-कुंडार' जैसा ऐतिहासिक उपन्यास उन्होंने केवल 'विराटा की पद्मिनी' ही लिखा। इसका वातावरण ऐतिहासिक है और पात्र अधिकांश में कपोल-कल्पित हैं। कहानी का आधार जनश्रुति है और उसी रूप में चरित्र-चित्रण हुआ है। इसमें वातावरण का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। 'माँ' के बाद कौशिक का 'भिखारिणी' नामक उपन्यास बहुत लोक-प्रिय हुआ। उसमें भिखारिणी के प्रेम तथा त्याग की करुण गाथा है। कौशिक की कथावस्तु सीधी-सादी और सुलझी हुई है। प्रेमचन्द की तरह इनमें उपदेश की मात्रा नहीं है। चरित्र-

चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। इनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनके संलापों की सजीवता है। भाषा व्यावहारिक है। उपन्यास-साहित्य के विकास में जिन विगत युग के लेखकों ने योग दिया उनमें चतुरसेन शास्त्री के 'अमर अभिलाषा' तथा 'आत्मदाह', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'शराबी' तथा 'सरकार तुम्हारी आँखों में', चण्डीप्रसाद हृदयेश के 'मंगलप्रभात' और इलाचन्द्र जोशी के 'विजनवती' नामक उपन्यास उल्लेखनीय हैं। कला की दृष्टि से इनका स्थान बहुत ऊँचा है।

नवीन लेखकों में जैनेन्द्रकुमार के नाम से प्रायः सभी परिचित हैं। जैनेन्द्रकुमार के 'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' आदि उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता है। इन उपन्यासों में पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं (Individual characteristics) की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। जैनेन्द्र की लेखनी शास्त्रीय नियमों से बद्ध नहीं है, वह स्वच्छन्द रूप से अपनी नवीन विशेषताओं को लेकर आगे बढ़ती रहती है। वर्णन-शैली में एक ऐसी विचित्रता है कि वह पाठक का ध्यान बरबस आकर्षित कर लेती है। उनके पात्रों की मानसिक अवस्था में भी यही विचित्रता दृष्टिगत होती है। कहीं-कहीं भावों में अधिक डूब जाने के कारण शैली में दुरूहता भी आ गई है और पाठक पल-भर के लिए विस्मय-विमुग्ध हो विचार करने लग जाता है। 'त्याग-पत्र' का यह अंश देखिये—

'किनारे पर ही रहें, जहाँ पैर धरती से छू जाते हैं। वहीं तक रहें, जहाँ हमारा लंगर धरती को पकड़ ले और हम ठहर सकें। बस, बस। उसके आगे लयतक समन्दर के अगाध फैलाव की ओर हम देख लिया करें, यही क्या कम है। इतना भी बहुत है, बहुत है। इससे भी भीतर कंप भर आता है। चित्त सहम जाता है। सिर चकरा आता है। झेला नहीं जाता। जितनी झेल सकें, उतनी ही उस विराट् की झाँकी ले लें

और फिर अपनी धरती के पास-पास किनारे-किनारे सबसे उलझते-सुलझते जिये चलें। यही उपाय है। यही मानव-जीवन है।'

प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'विदा', 'विजय' और 'विकास', नामक उपन्यास लिखे, जिनमें 'विदा' अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। 'विदा' में अवान्तर कथाओं का वैज्ञानिक ढंग से संगठन किया गया है। कुतूहल तथा कथा के स्वाभाविक प्रवाह का निर्वाह करने में लेखक पूर्णरूप से सफल हुआ है। चरित्र-चित्रण और भारतीय आदर्श-भावना की दृष्टि से भी 'विदा' उल्लेखनीय है।

ऋषभचरण जैन ने इस युग में अनेक उपन्यास लिखे, जिनमें 'भाई' प्रेमचन्द के ढंग पर लिखा गया है। अन्य उपन्यासों में, जिनमें 'दिल्ली का व्यभिचार', 'दिल्ली का कलंक', 'दुराचार के अड्डे', 'वेश्यापुत्र', 'मयखाना', 'चाँदनी रात', 'चंपाकली', 'हर हाइनेस', 'पैसे का साथी', 'गदर', 'मास्टर साहब', 'सत्याग्रह' आदि मुख्य हैं, 'उग्र' के उपन्यासों का अनुकरण किया गया है। नग्न यथार्थवाद की ओर ध्यान अधिक देने के कारण उपन्यास सुरुचिपूर्ण नहीं है, लेकिन फिर भी भाषा और संलाप की दृष्टि से ये उपन्यास महत्वपूर्ण हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने इस युग में दो उपन्यास लिखे—'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष'। 'तीन वर्ष' की अपेक्षा 'चित्रलेखा' अधिक सफल बन पड़ा है। 'चित्रलेखा' जनता में खूब लोकप्रिय हुआ, आजकल वह चित्रपट पर भी आ गया है। उपन्यास पाप और पुण्य की समस्या को लेकर आगे बढ़ा है। घटनाएँ हमारे सन्मुख इस रूप में आती हैं कि उनमें कृत्रिमता का नामोनिशान तक नहीं है। उपन्यास चरित्र-प्रधान है, जिसमें चरित्रों की विचित्रताओं का सूक्ष्म विश्लेषण करना ही लेखक का लक्ष्य है। वर्णन-प्रणाली उच्चकोटि की है। संलाप सजीव और स्वाभाविक हैं। भाषा पात्रों के अनुकूल बन पड़ी है और उसमें सर्वत्र सरसता

है। इसकी गद्य-शैली का एक उदाहरण देखिए:—

'संसार में पाप कुछ भी नहीं है, यह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।' 'जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्ता नहीं है केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा?' 'संसार में इसीलिए पाप की कोई परिभाषा नहीं हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम वही करते हैं, जो हमें करना पड़ता है।'

इस समय के उपन्यासों में सियारामशरण गुप्त के 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' नामक उपन्यासों का भी विशेष स्थान है। इन उपन्यासों की कथा-वस्तु साधारण है। 'नारी' ही गुप्त जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा जा सकता है। यह उपन्यास नारी-समस्या को लेकर लिखा गया है। गाँवों के सुन्दर चित्र खींचने तथा वहाँ की नैतिक भावना का वर्णन करने में गुप्तजी सिद्धहस्त हैं। पात्रों की बाह्य एवं आंतरिक दोनों भावनाओं का चित्रण इनके उपन्यासों में देखने को मिलता है।

ठाकुर श्रीनाथसिंह ने इस युग में 'उलझन', 'जागरण' तथा 'प्रभावती' नामक उपन्यासों की सृष्टि की, जिनमें 'जागरण' ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। 'जागरण' ग्राम-सुधार की योजना लेकर आगे बढ़ा है। इसमें सत्याग्रह की उत्कृष्टता पर विचार प्रकट किये गये हैं। इसी प्रकार राधिकारमणसिंह ने 'राम-रहीम', 'सूरदास' तथा 'सावनी समा' नामक उपन्यास लिखे, जिनमें सामयिक आचार-विचारों की विशद व्यंजना की गई है।

(५) कहानी

द्विवेदी-युग में कहानी के कला-रूप और उसकी विभिन्न

शैलियों का जन्म हो चुका था, प्रसाद-युग में आकर उनके द्वारा कहानी-साहित्य का विकास द्रुत-गति से होने लगा। धीरे-धीरे शैली की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्कूलों की स्थापना हुई, लेकिन इस प्रकार का विभाजन करना ठीक नहीं, क्योंकि शैली एक गति-शील वस्तु है, उसका सम्बन्ध लेखक की निजी शक्ति और प्रतिभा से है। प्रायः प्रत्येक लेखक में अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं, जो दूसरे लेखकों में देखने को नहीं मिल सकती हैं।

प्रसाद-युग में सर्वप्रथम हमारे सन्मुख प्रेमचन्द आते हैं। हिंदी-संसार में उनकी कहानियाँ जितनी लोकप्रिय हुई हैं, उतनी और किसी लेखक की नहीं। उन्होंने हिंदी कथा-साहित्य को लगभग तीन सौ कहानियाँ दी हैं, जिनके अनेकों संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। सरस्वती प्रेस, बनारस ने उन सबको मानसरोवर, ६ भागों में विभाजित कर एकत्रित करने का अच्छा कार्य किया है। इनकी कहानियों के अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न विभाजन हो सकते हैं। इन कहानियों की भाषा सरल, सुन्दर, चुस्त और हृदयग्राही है। वह कहानी के लिए सर्वथा उपयुक्त है। ऐसी मुहावरेदार, सरल, सुन्दर भाषा हमें और किसी कहानीकार में देखने को नहीं मिलती है। चरित्र-चित्रण में प्रेमचंद ने कमाल कर दिया है। वे सच्चा, सजीव और भावपूर्ण चित्र अंकित करने में पूर्णरूप से सफल हुए हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रेमचन्द की ही सर्वप्रथम देन है। मानसिक भावों के घात-प्रतिघात तथा चरित्र के उत्थान-पतन दिखाने में प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। प्रेमचन्द का पाठक क्या उनकी 'बड़े घर की बेटी', 'रानी सारंधा', 'फातिमा', 'ईदगाह', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'दिल की रानी', 'बेटों वाली विधवा', 'कामना-तरु', 'पंच-परमेश्वर', 'कफ़न', 'बूढ़ी काकी', 'पूस की रात' आदि अनेक उत्कृष्ट रचनाओं से परिचित नहीं है। 'रानी सारंधा' कहानी का यह अंश देखिए:—

'रानी ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिये।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँपकर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभो दो।

रानी के हृदय पर वज्राघात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ!—इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी। आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित रहना नहीं चाहता।

रानी—मुझसे यह कैसे होगा?

पाँचवाँ और अंतिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझला कर कहा—इसी जीवन पर आन निभाने का गर्व था?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्यपूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही। लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान् हो जाती है। निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारंधा ने दामिनी की भाँति लपककर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभो दी!

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शांति छाई हुई थी।'

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी-कहानी-साहित्य में जिन-जिन लेखकों ने भाग लिया, उनमें सुदर्शन का नाम विशेष प्रसिद्ध है। उर्दू से हिन्दी की ओर आने के कारण भाषा व्यावहारिक तथा रोचक है। प्रेमचन्द की तरह आप स्थान-स्थान पर उपदेशक नहीं बनते। आपके पात्र सजीव होते हैं। सामाजिक कहानियाँ

लिखने में आप विशेष कुशल हैं। 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थ-यात्रा', 'सुप्रभात', 'पनघट', 'प्रमोद' आदि आपके कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

शैली की दृष्टि से पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' तथा चतुरसेन शास्त्री अपने समकालीन कहानी-लेखकों को बहुत पीछे छोड़ जाते हैं। लेकिन, जैसा कि उपन्यासों को लेकर कहा जा चुका है, इन दोनों लेखकों की दृष्टि नग्न यथार्थवाद की ओर अधिक लगी रहती है, अतः कहानी अपने आदर्श से नीचे गिर जाती है। उग्र जी की शैली भावात्मक है, कहानियों की भाषा सुन्दर है, तथा भाव-व्यंजना मौलिक है। राजनीतिक कहानियों में आप कोई सानी नहीं रखते, लेकिन खटकने वाली बात केवल एक यही है कि स्थान-स्थान पर श्लीलता की सीमा का उल्लंघन कर दिया गया है। 'चिनगारियाँ', 'इन्द्र धनुष', 'निर्लज्ज' आदि आपकी कहानियों के संग्रह हैं। चतुरसेन शास्त्री ऐतिहासिक कहानियाँ लिखने में विशेष सिद्धहस्त हैं। शैली 'उग्र' से पृथक् है, यद्यपि विचार-धारा दोनों की मिलती-जुलती है। वर्णन-शक्ति अद्वितीय है। 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'पान वाली' आदि कहानियों में उत्कृष्ट शैली के दर्शन होते हैं। 'रजकण' आपकी कहानियों का एक सफल संग्रह है।

पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' गार्हस्थ्य जीवन के चित्र उपस्थित करने में पूर्ण सफल हुए हैं। इस दृष्टि से उनका स्थान बहुत ऊँचा है। भाषा परिमार्जित है, उसमें उर्दू-हिन्दी दोनों प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। लेकिन फिर भी शैली की दृष्टि से सुदर्शन तथा प्रेमचन्द से आपकी शैली भिन्न है। 'चित्रशाला', 'गल्प-मन्दिर' और 'प्रेम-प्रतिमा' आपके सुन्दर कहानी-संग्रह हैं।

पण्डित ज्वालादत्त शर्मा ने इस युग में आठ-दस मौलिक

कहानियों की सृष्टि की, जिनमें 'भाग्य का चक्र' विशेष रूप से प्रसिद्ध हुई। समाज के करुण चित्र आपकी कहानियों में सफलता-पूर्वक अंकित किये गये हैं। इसी प्रकार पण्डित शिवनारायण द्विवेदी ने भी इनी-गिनी कहानियाँ लिखीं, जिन में 'खानसामा' और 'नाटक' का विशेष रूप से आदर हुआ है।

इस युग के कहानी-लेखकों में जयशंकरप्रसाद का स्थान किसी लेखक से कम नहीं है। इनकी कहानियों में हमें कल्पना और कविता का-सा आनन्द आने लगता है। शैली कवित्व-पूर्ण है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में एक प्रकार की रहस्यात्मकता के दर्शन होते हैं। अलौकिक सौंदर्य की ओर आप विशेष रूप से आकृष्ट हुए हैं। वातावरण की सृष्टि करने में आप बेजोड़ हैं। कहानियों का आरम्भ और अन्त भी बड़ा मधुर होता है। आपके पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'आकाश दीप', 'आँधी', 'इन्द्रजाल', 'छाया' और 'प्रतिध्वनि'। कुल आपने ६६ कहानियाँ लिखी हैं।

रायकृष्णदास की कहानियाँ भावुकता-प्रधान हैं। कहानियों में गद्य-गीतों के समान समर्थ तथा सशक्त भाषा-शैली के प्रतिष्ठापक आप ही हैं। आप के वर्णनों में चित्रोपमता रहती है और जिस दृश्य का वर्णन करने लगते हैं उसका साकार रूप आँखों के सामने नाचने लग जाता है। कहानियों में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन आप बड़ी ही खूबी के साथ करते हैं। भाषा में एक प्रकार की मधुरिमा है, जिससे पाठकों का चित्त प्रसन्न हो जाता है। 'प्रसन्नता की प्राप्ति' में कहानी का आधुनिक रूप पाया जाता है। 'सुधांशु' और 'अनाख्या' आपके दो सफल कहानी-संग्रह हैं।

छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने में पण्डित विनोदशंकर व्यास विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी शैली जयशंकरप्रसाद से मिलती-जुलती

। उनमें एक नवीन कल्पना भरी हुई रहती है। भाषा सरल
ौर सीधी है तथा भाव गम्भीर होते हैं। कहानी पढ़ लेने पर
ी लेखक का उद्देश्य एक बार तो पाठकों की समझ में नहीं
ाता। 'तूलिका', 'भूली बाढ़', 'नवपल्लव' तथा 'उसकी कहानी'
ापके कहानी-संग्रह हैं।

करुण-रस-प्रधान कहानियों में पण्डित जनार्दनप्रसाद झा
द्विज' का स्थान सर्वोत्तम है। भाषा मधुर एवं परिमार्जित तथा
ाव बड़े ही मार्मिक होते हैं। भावुक कवि होने के नाते इनकी
कहानियों में भी भावुकता के दर्शन होते हैं। 'किसलय',
'मालिका', 'मृदुदल' और 'मधुमयी', आपके कहानी-संग्रह बहुत
लोकप्रिय हुए हैं।

उपन्यासों की तरह जैनेन्द्रकुमार ने कहानी-क्षेत्र में भी खूब
नाम कमाया है और केवल अल्प समय के भीतर ही अपना
विशेष स्थान बना लिया है। पाश्चात्य सभ्यता का भारतीय
विचार-धारा पर जो प्रभाव पड़ा, उसी का रूप इनकी कहानियों
में देखने को मिलता है। उपन्यासों की ही भाँति कहानियों में
भी दार्शनिकता का सूक्ष्म विश्लेषण पाया जाता है। इसीलिए
अधिकांश कहानियाँ कठिन हो गई हैं तथा भाषा-शैली भी
विचित्र बन गई है। 'जाह्नवी' एक ऐसी ही कहानी है, जिसमें
लेखक को एक क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है। आपके 'एक रात',
'वातायन', 'स्पर्द्धा', 'फाँसी', 'दो चिड़ियाँ' आदि संग्रह प्रकाशित
हो चुके हैं।

प्रसाद-युग में डाक्टर धनीराम प्रेम ने भी कुछ सुन्दर
कहानियाँ लिखी हैं, जो हमें उनके 'वल्लरी' नामक संग्रह में
देखने को मिलती हैं। कहानियाँ लम्बी अवश्य हो गई हैं,
लेकिन उनसे पाठक का जी नहीं ऊबता। उनकी 'डोरा' कहानी
हिन्दी-कथा-साहित्य में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुकी है। इनकी

कहानियाँ विदेशी ढंग पर लिखी हुई प्रतीत होती हैं, यही तो कारण है कि उनमें भारतीयता की झलक कम मिलती है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की कुछ कहानियाँ 'झलमला' संग्रह में दिखाई देती हैं, जो सुन्दर बन पड़ी हैं। भाषा सरल, स्वच्छ और परिमार्जित है। इसी प्रकार प्रफुल्लचन्द्र ओझा ने भी कहानी-साहित्य के विकास में विशेष योग दिया है। सामाजिक कहानियाँ लिखने में आप कुशल हैं। भाषा मँजी हुई और विषय हृदय को छूने वाले होते हैं। 'दो दिन की दुनिया', 'जलधारा' आदि आपके सुन्दर संग्रह हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' तथा मोहनलाल महतो 'वियोगी' के नाम इस युग के कहानी-लेखकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इन सब की कहानियों में हमें आधुनिकतम रूप के दर्शन होते हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों में कथा-भाग कम रहता है। उदाहरण के लिए उनकी प्रसिद्ध कहानी 'मिठाई वाला' ही लीजिए। इसमें केवल एक सुन्दर प्रभावशाली रूप की ही सृष्टि की गई है। कहानी मनोवैज्ञानिक है, जिसमें मिठाई वाले की भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। 'वियोगी' ने भी भाव-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें 'कवि' का स्थान बहुत ऊँचा है। वह पुराण कथा के रूप में वर्णित है जिसका एकमात्र उद्देश्य प्रभावोत्पादकता है। भाषा विषय के अनुसार संस्कृत-प्रधान हैं। अंकित किये गये चित्र सुकुमार और भावपूर्ण हैं। 'अज्ञेय' ने भी प्रभाव-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें 'रोज़' विशेष प्रसिद्ध है। इसमें जीवन के भिन्न-भिन्न यथ्य-तथ्य चित्रों द्वारा किसी विशेष भाव की ओर संकेत किया गया है।

अन्य कहानी-लेखकों में मुंशी जहूर बख्श, बाबू शिवपूजन-

सहाय, प्रभाकर माचवे, चण्डीप्रसाद हृदयेश, श्रीनाथसिंह, पंडित गोविंदवल्लभ पंत, राजेश्वरप्रसादसिंह आदि के नाम लिये जा सकते हैं, जिनकी फुटकल कहानियों से हिन्दी-कहानी-साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ।

(६) उपयोगी साहित्य

इतिहास—हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और लेखक गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों से ही भारतीय इतिहास लिखने लग गये थे। इस युग में उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण खोजें कर इतिहासों के प्रकाशन का कार्य जारी रखा। राजपूत जाति का इतिहास लिखने में आपकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। इस युग के आरम्भ में आपने 'राजपूताने का इतिहास' नामक एक बृहत् ग्रंथ प्रकाशित कराया। आपकी अन्य कृतियों में 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपकी देखा-देखी अन्य लेखक भी इस क्षेत्र में प्रवेश करने लगे। ऐसे लेखकों में जगदीशसिंह गहलोत के 'मारवाड़ राज्य का इतिहास', विश्वेश्वरनाथ रेऊ के 'मारवाड़ का इतिहास', हीरालाल रायबहादुर के 'मध्यप्रदेश का इतिहास' और गोरेलाल तिवारी के 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' आदि के नाम सगर्व लिये जा सकते हैं। जातीय और धार्मिक इतिहास लिखनेवालों में मिश्रबन्धुओं का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने बौद्ध-काल-पूर्व के भारतवर्ष का एक बृहत् खोजपूर्ण इतिहास लिखा है। इस प्रकार के अन्य लेखकों में हीरालाल जैन का 'संक्षिप्त जैन इतिहास', अयोध्याप्रसाद गोयलीय का 'जैन वीरों का इतिहास' तथा 'मौर्य-साम्राज्य के जैन वीर' और भदन्त आनन्द कौसल्यायन का 'बुद्ध और उनके अनुचर' नामक कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। राजवंशों के इतिहास

लिखनेवालों में विश्वेश्वरनाथ रेऊ का 'राठौड़ों का इतिहास' अद्वितीय है। गोपाल दामोदर तामस्कर ने भी इस प्रकार का 'मराठों का उत्थान और पतन' नामक इतिहास लिखा है। विदेशीय इतिहास लिखनेवालों में प्राणनाथ विद्यालङ्कार के 'इंग्लैंड का इतिहास', देवकीनन्दन के 'अमेरिका की स्वाधीनता का इतिहास' प्यारेलाल गुप्त के 'फ्रांस की राज्य-क्रांति' तथा श्रीनारायण चतुर्वेदी के 'संसार का संक्षिप्त इतिहास' नामक ग्रन्थों का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। अंत में, इस काल के इतिहासों में कुछ इतिहास ऐसे भी दृष्टिगत होते हैं, जो शासन-प्रणाली के विकास को दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं। शालिग्राम शास्त्री का 'रामायण में राजनीति' तथा रामप्रसाद त्रिपाठी का 'भारतीय शासन विकास' इसी श्रेणी के हैं। अन्य लेखकों में आचार्य रामदेव, जयचन्द्र विद्यालंकार, महाराजकुमार रघुवीरसिंह, इन्द्र विद्यावाचस्पति और रघुनन्दन शास्त्री के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्होंने समय-समय पर उपयोगी-साहित्य का सृजन कर साहित्य की सेवा की।

जीवनी—प्रसाद-युग में लेखकों की दृष्टि जीवन-साहित्य पर भी गई। आत्म-चरित पर जो पुस्तकें लिखी गईं, उनमें रामविलास शुक्ल की 'मैं क्रांतिकारी कैसे बना', भवानीदयाल संन्यासी की 'प्रवासी की कहानी' तथा राजाराम की 'मेरी कहानी' नामक पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। संत-चरित्रों को लेकर पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार ने 'स्वामी श्रद्धानन्द' तथा 'लाला देवराज' नामक जीवनी-ग्रंथ लिखे। राजनैतिक चरित्रों को लेकर गोपीनाथ दीक्षित ने 'जवाहरलाल नेहरू' पर और मन्मथनाथ गुप्त ने 'चन्द्रशेखर आजाद' तथा 'अमर शहीद यतीन्द्रनाथदास' पर महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ प्रस्तुत कीं। सम्पूर्णानन्द ने 'सम्राट अशोक', विश्वेश्वरनाथ रेऊ ने 'राजा भोज' तथा गंगाप्रसाद

मेहता ने 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' पर ऐतिहासिक जीवन-चरित्र लिखे। व्रजरत्नदास का 'बादशाह हुमायूँ' नामक जीवन-चरित्र भी एक सफल जीवनी है। इसी प्रकार विदेशी चरित्रों को लेकर भी जीवन-चरित्र लिखे गये, जिनमें चन्द्रशेखर शास्त्री लिखित 'हिटलर महान्,' सत्यव्रत लिखित 'अब्राहम लिङ्कन', शिवकुमार शास्त्री लिखित 'नेलसन की जीवनी' तथा सदानन्द भारती लिखित 'महात्मा लेनिन' के जीवन-चरित्रों के नाम लिये जा सकते हैं। प्रसाद-युग के समस्त जीवनी-लेखकों में रामनाथलाल 'सुमन' ने जो नवीन आदर्श उपस्थित किया है, वैसा अन्यत्र नहीं दिखाई देता। उनका 'हमारे राष्ट्र-निर्माता' एक उत्कृष्ट कोटि का ग्रंथ है, जिसमें जीवनी-लेखन-कला के प्रायः सभी गुण विद्यमान हैं। इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द ने भी अपने 'कल्याण-मार्ग का पथिक' नामक आत्म-चरित को उच्चकोटि का बना दिया है। इस युग के जीवनी-साहित्य में हमें 'संस्मरणों' का एक नवीन रूप देखने को मिलता है। प्रसाद-युग से ही संस्मरण-साहित्य का सूत्रपात हुआ। बनारसीदास चतुर्वेदी, आचार्य रामदेव, श्रीराम शर्मा आदि लेखक इस विद्या में विशेष प्रवीण हैं।

विज्ञान—प्रसाद-युग में वैज्ञानिक साहित्य की यथेष्ट उन्नति हुई। इस कार्य में प्रयाग की विज्ञान-परिषद् से विशेष सहायता मिली। परिषद् की ओर से 'विज्ञान' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। वैज्ञानिक-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ लेखक रामदास गौड़ हैं। विज्ञान संबन्धी पुस्तकों तथा निबंधों को आपने अपनी परिमार्जित और सुसंस्कृत भाषा से अत्यन्त ही रोचक बना दिया है। शुष्क से शुष्क विषय को भी आप अपनी जादूभरी लेखनी से सरस बना देते हैं। 'विज्ञान हस्तामलक' इस दृष्टि से एक सुन्दर वैज्ञानिक ग्रंथ है। इस युग के अन्य लेखकों में सत्यप्रकाश

ने 'साधारण रसायन' तथा 'कारबनिक रसायन', गणित पर 'बीज-ज्यामिति' और जीवों पर 'सृष्टि की कथा' नामक महत्त्व-पूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। ज्योतिष पर लिखी गई पुस्तकों में गोरख-प्रसाद की 'सौर-परिवार' नामक पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है। प्राणिशास्त्र पर लिखे गये ग्रंथों में ब्रजेशबहादुर का 'जन्तु-जगत्' महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार स्वास्थ्य पर त्रिलोकीनाथ वर्मा का 'स्वास्थ्य और रोग' तथा 'हमारे शरीर की रचना', मुकुन्दस्वरूप शर्मा का 'मानव शरीर रहस्य' तथा 'स्वास्थ्य-विज्ञान' उच्चकोटि की रचनाएँ हैं। अन्य लेखकों में निहालकरण सेठी ने भौतिक-विज्ञान पर अच्छा काम किया है।

भूगोल—भौगोलिक साहित्य में भूगोल-संपादक रामनारायण मिश्र ने बड़ी तत्परता से काम किया।

समाज-शास्त्र—राजनीति की दृष्टि से गोपाल दामोदर तामस्कर का 'राज्य-विज्ञान' तथा अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का 'हिन्दू-राज्यशास्त्र', अर्थशास्त्र की दृष्टि से भगवानदास केला का 'हिंदी भाषा में अर्थशास्त्र', दयाशंकर दुबे का 'धन की सम्पत्ति' तथा प्राणनाथ विद्यालंकार का 'राष्ट्रीय आय-व्यय-शास्त्र', तर्क-शास्त्र की दृष्टि से गुलाबराय का 'तर्कशास्त्र', मनोविज्ञान की दृष्टि से चंद्रमौलि सुकुमार का 'मनोविज्ञान' और अन्त में नागरिक शास्त्र की दृष्टि से चंद्रराज भंडारी का 'समाज-विज्ञान', भगवानदास केला का 'नागरिक शास्त्र' तथा 'अपराध-चिकित्सा', बेनीप्रसाद का 'नागरिक शास्त्र' और राहुल सांकृत्यायन का 'मानव-समाज' अधिक महत्वपूर्ण हैं।

यात्रा संबंधी ग्रंथ—इस प्रकार के ग्रंथों में शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' सर्वश्रेष्ठ है। अन्य लेखकों में रामनारायण मिश्र और गौरीशंकरप्रसाद का 'यूरोप में छः मास', श्रीगोपाल नेवटिया का 'काश्मीर' और स्वामी सत्यदेव के निबंध तथा 'मेरी

जर्मन-यात्रा' आदि रचनाएँ ली जा सकती हैं।

भाषा-विज्ञान—इस विषय पर यद्यपि अधिक पुस्तकें नहीं लिखी गईं, फिर भी दो-चार पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नलिनीमोहन सान्याल का 'भाषा-विज्ञान', मंगलदेव शास्त्री का 'तुलनात्मक भाषा-शास्त्र' तथा श्यामसुन्दरदास का 'भाषा-रहस्य' इस विषय के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

व्याकरण—शिक्षा-विभाग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हिन्दी भाषा के व्याकरण तैयार किये गये। इस क्षेत्र में धीरेन्द्र वर्मा के व्याकरण बेजोड़ हैं। हिंदी की बोलियों के स्वरूप उन्होंने 'ग्रामीण हिंदी' लिखी और हिंदी की एक सर्व-प्रमुख बोली साहित्यिक ब्रजभाषा पर उन्होंने अधिकारपूर्ण 'ब्रजभाषा-व्याकरण' तैयार किया। इस क्षेत्र में कामताप्रसाद गुरु का 'हिंदी-व्याकरण' भी उल्लेखनीय है।

साहित्य-शास्त्र—इस विषय पर भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'रूपक-रहस्य', रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद', लक्ष्मीनारायणसिंह सुधांशु ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'विश्व-साहित्य', कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्य-कल्पद्रुम', अर्जुनदास केडिया ने 'भारती-भूषण', गुलाबराय ने 'नवरस' और रामकृष्ण शुक्ल ने 'काव्य-जिज्ञासा' नामक उपयोगी ग्रंथों की रचना की।

पत्र-पत्रिकाएँ—'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका के नियमित प्रकाशन के बाद हिंदी-पत्रों की संख्या बढ़ने लगी। 'सरस्वती' के अनुकरण पर कमला, इंदु, लक्ष्मी, प्रभा, प्रतिभा, शारदा, मनोरमा, मर्यादा आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। हास्य-विनोद के पत्रों में मनोरंजन ही मुख्य है, जिसका संपादन कौशिक जी करते थे। पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय ने काशी से

'मालव-मयूर' नामक राजनीतिक पत्र निकाला। 'स्वार्थ' में अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी सुन्दर लेख प्रकाशित होते रहते थे। 'महारथी' में वीर-रस के लेखों का प्रकाशन होता रहा। 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' तथा 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का नियमित रूप से प्रकाशन चलता रहा। अन्य मासिक पत्रों में माधुरी, सुधा, विशाल-भारत, विश्वमित्र, सहेली, चाँद, हँस आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रयाग की 'माया' कहानियों के लिए प्रमुख पत्रिका मानी गई। मध्यभारत की 'वीणा' नामक पत्रिका के द्वारा भी साहित्य की अच्छी सेवा हुई। साप्ताहिक पत्रों में 'पाटलिपुत्र', 'आकाशवाणी', 'कर्मयोगी', 'भविष्य' आदि पत्र प्रकाशित हुए। विनोदपूर्ण पत्रों में 'मतवाला' विशेष प्रसिद्ध हुआ। 'विश्वमित्र', 'जागरण', 'प्रकाश' आदि साप्ताहिक पत्र भी निकलते रहे। दैनिक पत्रों में 'आज' के द्वारा हिन्दी-गद्य की विशेष उन्नति हुई। 'वर्तमान', 'प्रताप', 'अर्जुन', 'हिंदी-मिलाप', 'लोकमत' आदि का योग भी प्रशंसनीय रहा। चल-चित्र तथा नाटक सम्बन्धी पहला पत्र 'रंग-मंच' कलकत्ता से निकला, जिसमें चलचित्र के विषय में उल्लेखनीय निबन्ध प्रकाशित होते रहे।

टीकाकार—इस युग के टीकाकारों में सबसे महत्वपूर्ण लेखक जगन्नाथदास रत्नाकर तथा लाला भगवानदीन हैं। रत्नाकर जी ने हिन्दी के अनेक प्राचीन काव्यों का सफल सम्पादन करके टीकाएँ भी लिखीं। विहारी-सतसई पर लिखी गई टीका बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। उसका अर्थ बड़ी ही सरलता से समझाया गया है। लाला भगवानदीन ने केशव और बिहारी पर जो उच्चकोटि की टीकाएँ लिखी हैं, उनसे इन कवियों के काव्य को समझने में भारी सुविधा हुई है। अन्य लेखकों में विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नाम उल्लेखनीय है।

सम्पादन—बाबू श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्राचीन हिन्दी-ग्रन्थों का जो आदर्श सम्पादन किया, उस से बहुत से लेखकों को इस क्षेत्र में प्रेरणा मिली। कृष्णविहारी मिश्र ने 'मतिराम ग्रन्थावली' आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन प्रस्तुत किया। रामनरेश त्रिपाठी ने युक्तप्रान्त और बिहार के ग्राम-गीतों का एक बड़ा ही सुन्दर सम्पादन किया है। 'कविता-कौमुदी' नामक हिन्दी-कवियों की कविता का संग्रह हिन्दी-संसार में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। राजस्थानी-साहित्य के ग्रन्थों का सम्पादन करनेवाले लेखकों में ठाकुर रामसिंह और सूर्यकरण पारीक के नाम सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके द्वारा सम्पादित 'कृष्ण-रुक्मिणी की केलि' को देखकर डाक्टर ग्रियर्सन ने भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। 'ढोलामारू का दूहा' भी एक ऐसा ही सम्पादित ग्रन्थ है। इसी प्रकार पुरोहित हरिनारायण ने 'सुन्दर ग्रन्थावली' का सम्पादन बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है।

अनुवाद—द्विवेदी-युग के दो प्रसिद्ध अनुवादक इस युग में भी बड़े उत्साह के साथ अनुवाद करते गये। इस दिशा में दोनों की शक्ति उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती रही। पंडित रूपनारायण पांडेय ने इस युग में भागवत का अनुवाद 'शुकोक्ति-सुधासागर' के नाम से किया है। अनुवाद में कुछ शिथिलता अवश्य लक्षित होती है, लेकिन फिर भी मानना पड़ेगा कि इनकी भाषा अन्य भाषाओं के भावों को प्रौढ़ता के साथ व्यक्त करने में सफल हुई है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने भी अनेक सुन्दर अनुवाद किये हैं। हमारी भाषा के अनुवादकों में शुक्ल जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। आपके अनुवाद कहीं-कहीं तो मौलिक रचनाओं से भी सुन्दर हो गये हैं, क्योंकि मूल त्रुटियों को बचाकर ग्रन्थों को एक समुन्नत रूप देने की चेष्टा की गई है। राखालदास के 'शशांक' का अनुवाद इसका ज्वलन्त उदाहरण

है। संस्कृत से जो अनुवाद हुए उनमें पण्डित ज्योतिश्वरनाथ भट्ट के कादम्बरी नामक ग्रन्थ का अनुवाद बहुत ही सफल हुआ है। पण्डित चन्द्रशेखर शास्त्री ने वाल्मीकि-रामायण के अनुवाद करने के अनन्तर महाभारत का अनुवाद किया। मराठी से बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'दासबोध' का एक सुन्दर अनुवाद किया। इसी प्रकार पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी तथा पण्डित लक्ष्मणनारायण गर्दे ने मराठी से अनुवाद किये हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के ग्रन्थों का सफल अनुवाद धन्यकुमार जैन ने किया। गुजराती ग्रन्थों के अनुवाद में बाबू रामचन्द्र वर्मा, पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय तथा काशीनाथ त्रिवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्त में, अंग्रेजी साहित्य का भी अनुवाद हिन्दी में किया गया, जिन में पण्डित छविनाथ, प्रेमचन्द, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, पण्डित जनार्दन भट्ट आदि के नाम सगर्व लिये जा सकते हैं। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी का 'बलिदान' तथा श्रीकृष्ण पालीवाल का 'अमरपुरी' नामक अनुवाद विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं।

: ७ :

वर्तमान युग

(सन् १९३७ ई० से...)

प्रसाद-युग से आगे चलकर जब हम वर्तमान युग में आते हैं, तो हमें मौलिक गद्य की दृष्टि से कोई विशेष उन्नति दृष्टिगत नहीं होती। विगत युग के वे ही लेखक, वही लेखन-शैली और वे ही विचार-धाराएँ—कुछ भी तो नवीनता नहीं दिखाई देती। हाँ, इस समय तक आते-आते बहुत से लेखकों ने हमारा साथ छोड़ दिया लेकिन जो हमारे साथ हैं, उनके द्वारा भी गद्य का कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हो सका। क्या हुआ यदि उनमें से दो-चार कलाकारों के गद्य से हम मुग्ध हो जाएँ? गद्य की इस हीनावस्था के अनेकों कारण हैं। इस युग में विज्ञान के नवीन आविष्कारों—जैसे चलचित्र, रेडियो आदि ने गद्य को प्रोत्साहन तो अवश्य दिया, लेकिन उसके साहित्यिक रूप का कोई विकास नहीं हुआ। विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की दृष्टि एकमात्र अन्वेषण-कार्य की ओर लगी रही। न तो उन्होंने स्वयं कोई मौलिक-गद्य की उद्भावना की और न किसी को इसके लिए आगे ही बढ़ाया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों में राजनीतिक नेता-गण सभापति का आसन ग्रहण करने लगे और इससे हमारा गद्य राजनीति के दलदल में फँस गया। यही नहीं, हमारे साहित्यिक निर्माता इन राजनीतिक नेताओं के ऐसे भक्त हो गये कि उन्होंने स्वतन्त्ररूप से साहित्य-सृजन करना एक प्रकार से बन्द कर दिया। भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम में इस युग की

पत्र-पत्रिकाओं ने चतुर सेनानायकों का सा काम किया। प्रायः प्रत्येक पत्र में राजनीतिक रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। कोई नगर इस प्रकार की रचनाओं से खाली नहीं रहा। यह युग एक प्रकार से पत्र-पत्रिकाओं का युग ही समझना चाहिए, लेकिन राजनीतिक रचनाओं के एकाधिपत्य से मौलिक-गद्य की धारा मंद पड़ गई। सम्पादक, लेखक और भारतीय जनता गाँधी की काँग्रेस से इतने प्रभावित हुए कि सब ने मिलकर एक स्वर से स्वतन्त्रता के नारे लगाना आरम्भ किया। तिरंगा झण्डा घर-घर में फहराने लगा और उसकी शान के लिए सब ने तन, मन, धन, जन से सहायता देना आरम्भ किया। इन सब कारणों से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के चिह्न तो स्पष्ट दिखाई देने लग गये, राजनीतिक-साहित्य भी अच्छा खासा तैयार हो गया, लेकिन उत्कृष्ट कोटि के साहित्यिक गद्य का अभाव बना रहा।

(१) निबन्ध

निबन्ध-साहित्य में प्रसाद-युग के अधिकांश लेखक ही कार्य करते रहे। नवीन लेखकों में गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'निबन्धिनी', नलिनीमोहन सान्याल का 'उच्चविषयक लेखमाला', वियोगी हरि का 'मेरी हिमाकत' और 'प्रेम योग', धीरेन्द्र वर्मा का 'विचार-धारा', महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' और 'शृङ्खला की कड़ियाँ' आदि निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए। कविता के क्षेत्र की भाँति महादेवी ने अपने निबन्धों के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि वे हिंदी के अच्छे से अच्छे निबन्धकार से किसी प्रकार कम नहीं हैं। महादेवी के समस्त निबन्ध एक निश्चित उद्देश्य को लेकर लिखे गये हैं। उनमें उपदेश की मात्रा नहीं, वरन् उनके निर्णयों में एक अद्भुत शक्ति है। उनके निबन्धों

में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ की पर्याप्त मात्रा रहती है। कल्पना की उड़ानें उनमें कम हैं, हाँ, अलवत्ता अनुभूतियों का आधिक्य अवश्य है। 'शृङ्खला की कड़ियां' में नारी-विषयक निवन्ध हैं, जिसमें देवी जी ने अपनी विद्वत्ता तथा निष्पक्षता का अनुपम परिचय दिया है। कविता की तरह विचारों के उलझन में पड़ी हुई महादेवी के निवन्ध पहेलियों के सदृश हो गये हैं, जिन्हें सुलझाना कठिन हो जाता है। निवन्धों में नारी की घनीभूत मार्मिक वेदना को जिस रूप में प्रकट किया गया है, वह हमारे लिए विशेष हृदयग्राही हुई है। चित्रोपमता इन निवन्धों की प्रमुख विशेषता है। अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के चित्र सजीव और यथार्थ हैं। बीच-बीच में विनोद-व्यंग्यों से निवन्धों की मनोहरता बढ़ गई है। शैली अपूर्व है। उसमें निष्प्राण शब्दों तथा वाक्यों की बहुलता नहीं, वरन् उनके हृदय से निकलती हुई एक मौन और मूक वाणी सन्निहित है। नारी जाति की समस्याओं का उद्घाटन करनेवाली इस प्रथम लेखिका के गद्य का यह उदाहरण देखिए—

'पुरुष ने अपनी आवश्यकतावश ही उसे साथ आने की आज्ञा दी परन्तु स्त्री ने उससे पग मिलाकर चलकर प्रमाणित कर दिया कि पुरुष ने उसकी गति पर बन्धन लगाकर अन्याय ही नहीं, अत्याचार भी किया है। जो पंगु है उसी के साथ गतिहीन होने का अभिशाप लगा है, गतिवान को पंगु बनाकर रखना सबसे बड़ी क्रूरता है।'

अन्य लेखकों में डा० भगवानदास, सियारामशरण गुप्त, देवेन्द्रप्रसाद जैन, हरिभाऊ उपाध्याय, शांतिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० इन्द्रनाथ मदान, नगेन्द्र, नरोत्तमदास स्वामी, डा० सूर्यकान्त आदि के निवन्ध लिये जा सकते हैं, जो समय-समय पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते

रहते हैं। इधर कुछ संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। गद्य-गीतों में इस समय में आकर रघुवीरसिंह ने 'शेष स्मृतियाँ', सियारामशरण गुप्त ने 'झूठ-सच', गुलाबराय ने 'मेरी असफलताएँ' तथा वियोगी हरि ने 'मेरी हिमाकत' नामक पुस्तकें लिखीं, जिनमें उनके विविध कवित्वपूर्ण निबन्ध लिखे गये। कान्तानाथ 'चोंच' ने 'छड़ी बनाम सोटा' तथा 'चूना-घाटी' और सरजूप्रसाद पंडा गौड़ ने 'मिस्टर तिवारी का टेलिफोन' तथा 'चार चण्डूल' नामक हास्य-प्रधान निबन्धों का संग्रह प्रकाशित कराया।

(२) समालोचना

समालोचना का क्रम भी प्रसाद-युग की भाँति जारी रहा। प्राचीन कवियों पर आलोचना करनेवालों में नलिनीमोहन सान्याल की 'सूरदास', रामरतन भटनागर की 'सूर-साहित्य की भूमिका', महादेव पाण्डेय की 'तुलसी चरितावली' तथा 'तुलसीदास', रामनरेश त्रिपाठी की 'तुलसीदास और उनकी कविता' और चन्द्रशेखर पाण्डेय की 'रामायण के हास्य-स्थल' आदि अनेक पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है। रामरतन भटनागर इधर इस प्रकार की पुस्तकें बड़ी तेजी के साथ निकाल रहे हैं। नवीन कवियों को लेकर नगेन्द्र ने 'साकेत : एक अध्ययन', धर्मेन्द्र ने 'गुप्त जी के काव्य की कारुण्य-धारा', गुलाबराय ने 'प्रसाद जी की कला', नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'जयशंकरप्रसाद', प्रेमनारायण टंडन ने 'प्रेमचंद और ग्राम-समस्या', भगवतशरण उपाध्याय ने 'नूरजहाँ' तथा सत्यप्रकाश मिलिंद ने 'हरिवंशराय बच्चन' नामक महत्वपूर्ण समालोचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उपाध्याय जी की 'नूरजहाँ' नामक समालोचना गुरुभक्तसिंह के प्रबन्ध-काव्य पर लिखी गई है, जो बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। इधर कुछ वर्षों से प्रेमनारायण टंडन नवीन कवियों तथा लेखकों पर धड़ा-

घड़ पुस्तकें लिखने में लगे हुए हैं। लेकिन उनमें कोई नवीनता दृष्टिगत नहीं होती।

(३) उपन्यास

उपन्यास-साहित्य में प्रसाद-युग के अधिकांश लेखक कार्य करते रहे। चतुरसेन शास्त्री ने 'नीलमती' और 'राजा राजसिंह' नामक उपन्यास लिखे। 'नीलमती' में प्रेम का चित्रण किया गया है और 'राजा राजसिंह' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसी प्रकार उनके समकालीन लेखकों में से पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'घंटा', सियारामशरण गुप्त ने 'नारी', इलाचन्द्र जोशी ने 'सन्यासी' और 'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास लिखे हैं। इनके सम्बन्ध में कोई नवीन बात ध्यान में रखने योग्य नहीं है।

नवीन लेखकों में यशपाल ने तीन उपन्यास लिखे हैं–'दादा कामरेड', 'देश-द्रोही' और 'दिव्या'। यशपाल एक क्रांतिकारी लेखक हैं। इनके उपन्यासों में राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों को व्यक्त किया गया है। शोषित वर्ग उन्हें प्यारा है, पूंजीपतियों से वे घृणा करते हैं। राजनीतिक सिद्धांतों से हटकर जहाँ यशपाल ने मानव-जीवन की भावनाओं का चित्र खींचा है, वहाँ उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। लेकिन जहाँ ऐसा नहीं किया गया है वहाँ एक प्रकार की अस्वाभाविकता आ गई है। प्रथम दो उपन्यासों से उनका तीसरा उपन्यास पृथक् है जो अपेक्षाकृत अधिक सफल बन पड़ा है। सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने उच्च कोटि के उपन्यास लिखे हैं, जिनमें 'शेखर : एक जीवनी' अब तक के उपन्यासों में एक नवीन आयोजन है। कथावस्तु की दृष्टि से इस उपन्यास का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि यह तो केवल जीवनी के रूप में लिखा गया है।

लेकिन यह जीवनी नहीं है, क्योंकि इसमें एक नवीन प्रणाली का चमत्कार है। लेखक की दृष्टि में यह घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए (विज़न) को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है। एक विशेष परिस्थिति में जेल की चहारदीवारी के भीतर लेखक को यह (विज़न) प्राप्त हुआ और उसने तीन सौ पृष्ठों में उसे शब्दबद्ध कर डाला। पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी 'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती', 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि अनेक उपन्यास लिखे हैं। इन सब में 'बिल्लेसुर बकरिहा' उल्लेखनीय है। उसमें गाँवों के सजीव और यथार्थ चित्र देखने को मिलते हैं। गोविंदवल्लभ पन्त ने 'मदारी', 'प्रतिमा' और 'जुलिया' नामक उपन्यास लिखे हैं, जिन की कथावस्तु बड़ी ही अनूठी है। 'जुलिया' में जुलिया तथा उसके प्रिय कलाकार का चित्र पाठकों को मन्त्रमुग्ध कर देता है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने अनेक उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बना लिया है। 'प्रेम-पथ', 'लालिमा', 'पिपासा' आदि उनके सफल उपन्यास हैं। वाजपेयी जी मानव-जीवन के रहस्यों का उद्घाटन करने में विशेष प्रवीण हैं। उन्होंने 'पतिता की साधना', 'दो बहनें' तथा 'निमन्त्रण' नामक उपन्यास भी लिखे हैं। वाजपेयी जी के इन समस्त उपन्यासों में प्रेम की प्रधानता है। प्रेम के विविध चित्र खूब ही देखने को मिलते हैं। शैली की दृष्टि से अनूपलाल मंडल के 'निर्वासित', 'समाज की वेदी पर', 'साकी', 'रूपरेखा', 'ज्योतिर्मयी', 'गरीबी के वे दिन', 'ज्वाला', 'वे अभागे', 'मीमांसा', 'अभिशाप' आदि उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, उग्र आदि की सभी शैलियों के दर्शन होते हैं। उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चित्रण अच्छा हुआ है। सर्वदानंद वर्मा के 'संस्मरण', 'नरमेध', 'रानी की डायरी', 'निकट की दूरी', 'प्रश्न', 'आनन्द-निकेतन' आदि

उपन्यास भी सफल बन पड़े हैं। इन उपन्यासों के चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता है। प्रायः सभी पात्र आदर्श के लिए मर मिटने वाले हैं। स्त्री-लेखिकाओं में उषादेवी मित्रा का स्थान ऊँचा है। 'वचन का मोल', 'पिया', 'जीवन की मुस्कान' और 'पथचारी' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन सब में नारी-जीवन की विभिन्न समस्याओं का चित्रण किया गया है, इसलिए प्रायः सभी में एक ही भावना दृष्टिगत होती है। कहीं-कहीं रूढ़ियों के प्रति तीव्र व्यंग्य भी कस दिये गये हैं। वर्णन-प्रणाली साधारण है। नरोत्तमदास नागर ने अपने 'दिन के तारे' में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी ही खूबी के साथ किया है। राहुल सांकृत्यायन के साहित्य और राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाले 'भागो नहीं बदलो,' 'जादू का मुल्क', 'जीने के लिए', 'सोने का ढाल', 'सिंह सेनापति' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एक प्रगतिशील उपन्यास-लेखक हैं। 'सितारों का खेल' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अन्य उपन्यासों में पहाड़ी के 'सराय' तथा 'चल-चित्र', देवनारायण द्विवेदी के 'दहेज' तथा 'पश्चात्ताप', कुटुम्ब प्यारी देवी का 'हृदय का ताप', इंद्र विद्यावाचस्पति का 'जमीदार' तथा राजा राधिकारमणप्रसादसिंह का 'पुरुष और नारी' मुख्य हैं।

(४) नाटक

चलचित्रों के प्रचार और उनकी लोकप्रियता से नाटक-साहित्य को एक भारी ठेस लगी। उनका स्थान चलचित्रों ने ले लिया। फिर भी कतिपय नाटककारों ने नाट्य-साहित्य को बनाये रखने के लिए अनेक नाटक लिखे। लेकिन इन नाटकों का रूप विगत युगों के नाटकों से भिन्न है। वर्तमान-युग के नाटकों में प्रहसन और एकांकी का रूप ही देखने को मिलता है, और वह भी ऐसा जिसमें नाट्य-शास्त्र के नियमों का उतना

पालन नहीं किया गया है, जितना कि इसके पूर्व में किया जाता था। आजकल नाटक केवल साहित्यिक समारोहों, विभिन्न संस्थाओं तथा कालिजों में ही खेले जाते हैं, और वे भी किसी विशेष अवसर पर, लेकिन हिंदी-जनता में इनका प्रचार दिन-दिन कम ही होता जा रहा है। यही कारण है कि इस युग में हमें नाटक-साहित्य इतना समृद्ध नहीं दिखाई देता। नाटक और प्रहसन तो और भी कम हैं। यथार्थ में हमारे पास जो कुछ रह गये हैं, वे केवल एकांकी नाटक ही हैं। केवल इने-गिने लेखक ही इस समय इनकी रचना करते हैं। पौराणिक नाटकों में इस समय उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र और कमला' तथा 'उग्र' का 'गंगा का वेटा', ऐतिहासिक नाटकों में गोविंदवल्लभ पंत का 'अन्तःपुर का छिद्र', विश्वंभरसहाय का 'बुद्ध देव', गोविंद-दास सेठ का 'कुलीनता' तथा 'शशिगुप्त', रूपनारायण पाण्डेय का 'पद्मिनी', सामयिक और राष्ट्रवादी नाटकों में गोविन्ददास सेठ का 'विकास' तथा वृंदावनलाल वर्मा का 'धीरे-धीरे' और सामाजिक नाटकों में 'उग्र' का 'आवारा' तथा 'चुम्बन', अश्क का 'स्वर्ग की झलक', गोविन्ददास सेठ का 'सेवा-पथ' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इस समय में उच्च कोटि का कोई प्रहसन देखने को नहीं मिलता। हाँ, एकांकी नाटक इन दोनों की अपेक्षा अधिक लिखे गये हैं। द्वारकाप्रसाद के 'आदमी', सद्गुरु-शरण अवस्थी के 'दो एकांकी नाटक', उदयशंकर भट्ट के 'अभिनव' तथा 'स्त्री का हृदय', गोविंददास सेठ के 'सप्तरश्मि' तथा 'पंचभूत', डाक्टर राम-कुमार वर्मा के 'रेशमी टाई' तथा 'चारुमित्रा' नामक एकांकी संग्रहों के द्वारा इनका पर्याप्त विकास हुआ। उनमें से वहुत से एकांकी विशेष अवसरों पर अभिनीत भी किये गये हैं। लेकिन अंत में हमें यही कहना पड़ेगा कि नाटक, प्रहसन और एकांकी का

प्रचार अधिक नहीं हो सका । एकांकी नाटकों का वास्तविक आरम्भ प्रसाद-युग से हो चुका था, इसलिए इस युग में उनका विकास अवश्य हुआ, लेकिन रंगमंच के अभाव में तथा चल-चित्रों के प्रादुर्भाव से अन्य लेखकों का ध्यान इस ओर न जा सका।

(५) कहानी

प्रसाद-युग की कहानियों ने साहित्य में एक क्रांति उत्पन्न कर दी थी। उस युग में कहानियों के कला-रूप और शैली का इतना विकास हुआ तथा कहानी-साहित्य इतना लोकप्रिय हुआ कि हिंदी-साहित्य में इसने अपनी पूर्ण पृथक् सत्ता धारण कर ली। लेखकों को अपनी प्रतिभा और बुद्धि का उप-योग करने में जितनी सुविधा इस क्षेत्र में मिली, उतनी और किसी क्षेत्र में नहीं। पंत, निराला और भगवतीचरण वर्मा जैसे उत्कृष्ट कवि भी कहानी-कमनीयता से आकृष्ट हुए और उन्होंने कहा-नियाँ लिखना आरम्भ किया। इस युग में हिंदी के अन्य लेखक जो कहानी-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, वे इस प्रकार हैं— मोहनलाल नेहरू, रघुपतिसहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, बेचन शर्मा 'उग्र', विनोदशंकर व्यास, राजेश्वरप्रसादसिंह, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', वाचस्पति पाठक, दुर्गाप्रसाद भास्कर, जैनेन्द्र कुमार, ऋषभचरण जैन और इलाचन्द्र जोशी। इनमें से कुछ तो इस युग से पहले से भी लिखते आ रहे थे। उपर्युक्त तीनों कवियों में से भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ ही सुन्दर बन पड़ी हैं, शेष दो में एक नवीन कला के दर्शन अवश्य होते हैं, लेकिन कवि-कला ने उनकी कहानियों के सौंदर्य को नष्ट कर दिया है। मोहनलाल नेहरू ने उद्देश्य-प्रधान कहानियाँ लिखने में विशेष ख्याति प्राप्त की है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की

कहानियाँ उत्कृष्ट कोटि की मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं, जिनमें प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता है। 'उग्र' में प्रतिभा है, वे अच्छी से अच्छी शैली में कहानी लिखने की चुनौती दे सकते हैं, लेकिन नग्न यथार्थवाद के चक्कर में वे अधिक सफल नहीं हो सके। चतुरसेन शास्त्री का भी यही हाल है। उनकी कहानियों के शीर्षक बड़े मजेदार होते हैं। हाल ही में आपने मिस्टर जिन्ना को लेकर भारत-पाकिस्तान-विभाजन के बीभत्स नर-संहार को दृष्टि में रख कर 'लम्बग्रीव' नामक सुन्दर कहानी लिखी है। विनोद-शंकर व्यास और जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' भाव-प्रधान कहानियाँ लिखने में विशेष सफल हुए हैं। जैनेन्द्रकुमार ने शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करते हुए अपनी इच्छानुकूल तथा अपने ही आदर्शों के अनुसार कहानियों की सृष्टि की, जो हमें अच्छी लगने पर भी शुष्क और नीरस हैं। जैनेन्द्र की भावभंगी तथा भाषा-शैली ही निराली है। उनके जैसे वे ही हैं, यही उनकी विशेषता है। इलाचन्द्र जोशी की कहानियाँ कुछ सीमा तक सफल अवश्य हुई हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त कुछ लेखक ऐसे हैं, जो सर्वथा नवीन हैं और जिन्होंने इस युग में ही कहानियाँ लिखना आरम्भ किया था। इनमें सियारामशरण गुप्त, श्रीनाथसिंह, श्रीराम शर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, मोहन-लाल महतो 'वियोगी' और स्वामी सत्यदेव के नाम उल्लेखनीय हैं। गुप्त जी और वियोगी जी कवि हैं, इसलिए उनकी कहानियों में कविता का सा आनन्द भले ही आ जाय, कहानी-कला के दर्शन नहीं होते। स्वामी सत्यदेव थोड़े दिनों तक ही कहानियाँ लिख सके। श्रीराम शर्मा ने कहानी-क्षेत्र में अच्छा काम किया है। श्रीनाथसिंह की कहानियाँ भी सफल बन पड़ी हैं। निबन्धों के ढंग पर लिखी हुई सद्गुरुशरण अवस्थी की कहानियों ने विशेष ख्याति प्राप्त की। सत्यजीवन वर्मा भी

एक सफल कहानी-लेखक कहे जा सकते हैं।

आगे चलकर चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा, अख़्तरहुसेन रामपुरी, वीरेश्वर, साधुशरण, आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', धर्मवीर, अनन्तगोपाल शेवड़े, राजकुमार रघुवीरसिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, रमाशंकर पहाड़ी, सूर्यदेवनारायण श्रीवास्तव और यशपाल ने उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। इन समस्त लेखकों में राजकुमार रघुवीर सिंह और अख़्तरहुसेन रामपुरी की कहानियाँ विशेष रूप से लोकप्रिय हुईं। रघुवीरसिंह ने ऐतिहासिक तथा अख़्तरहुसेन ने क्रांतिकारी कहानियों में विशेष ख्याति प्राप्त की, यद्यपि संख्या की दृष्टि से इन दोनों लेखकों की कहानियाँ बहुत ही कम हैं। 'अज्ञेय' हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में एक नवीन प्रतिभा लेकर आये। उनकी कहानियों का आधार क्रांति और मानव हृदय का करुण रुदन है। प्रतिभा और अनुभूति की दृष्टि से अज्ञेय अपने समकालीन लेखकों से बहुत आगे निकल जाते हैं। यशपाल की कहानियाँ भी बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं।

हास्य-रस के कहानी-लेखकों में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव नाम कमा चुके थे। इस युग में उनकी परम्परा का निर्वाह करने वालों में शिवनाथ शर्मा, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेवप्रसाद गौड़ और अन्नपूर्णानन्द के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं। हरिशंकर शर्मा ने अनेक सुन्दर रेखा-चित्र (Sketch) लिखे। अन्नपूर्णानन्द भी अपनी कहानियों से सफल हुए हैं, लेकिन प्रायः सभी साधारण कोटि की हैं। कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब' ने हास्य-रस की कहानियों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। मिर्जा अजीमबेग चग़ताई ने सुन्दर हास्यप्रधान कहानियाँ लिखीं। 'यह तस्वीर किसकी है' इसका सर्वश्रेष्ठ

उदाहरण है।

स्त्री-कहानी-लेखिकाओं में सर्वप्रथम उमा नेहरू ने अपनी लेखनी उठाई। उनके बाद शिवरानी प्रेमचन्द ने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। फिर तो सुभद्राकुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, कमलादेवी चौधरी, सुशीला आगा, सरस्वती, होमदेवी, तारा पाण्डेय, रत्नकुमारी और सत्यवती मलिक ने इस क्षेत्र में विशेष रुचि दिखलाई। शिवरानी ने गार्हस्थ्य जीवन के सीधे-सादे चित्र खींचे और सुभद्राकुमारी चौहान ने पुरुषों के प्रति विद्रोह की भावनाओं को अपनी कहानियों में व्यक्त किया। लेकिन इनमें वे अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकीं। उषादेवी की कहानियों में व्यक्तित्व का सुन्दर विकास देखने को मिलता है। कमलादेवी ने अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में विशेष कुशलता का परिचय दिया है। सुशीला आगा की कहानियाँ सफल बन पड़ी हैं। सत्यवती मलिक की छोटी-छोटी भावप्रधान कहानियों में सुन्दर-सुन्दर भाव-चित्र उतरे हैं। सोनरिक्सा दम्पति ने कहानी-कला को ध्यान में रख कर अपनी कहानियाँ लिखी हैं।

आज कहानीरूपी दीपक पर असंख्य पतंगे उड़-उड़ कर जा रहे हैं। कहानी की लोकप्रियता और पत्र-पत्रिकाओं के मान ने उन्हें ऐसा करने के लिए अग्रसर किया है। लेकिन उनमें से सच्चे प्रेमी केवल इने-गिने ही हैं। कहानी-साहित्य की दुर्दशा देख कर हमारा गला भर आता है। नवीन लेखकों को कहानी प्रकाशित कराते समय जरा संयम, धैर्य और शांति से काम लेना चाहिए। उनकी प्रतिभा का पाकिस्तान-हिन्दुस्तान की तरह विभाजन नहीं होने का। वह सदैव उनके साथ रहती है। मैं अपने ऐसे मित्रों से कहूँगा कि वे तनिक देर के लिए रुकें

शीघ्रता न करें। कहानी लिखना कोई आसान काम नहीं है। कहानी किसी पर लिख डालना जितना आसान है, उसके दुष्परिणामों को सहन करना उतना ही कठिन। दूसरी ओर सम्पादकों को भी चाहिए कि वे पैसे के लोभ में पड़ कर साहित्यिकता का गला नहीं घोंटें। लेकिन उन्हें साहित्यिकता से क्या लेना-देना। निराश प्रेमियों की सस्ती और भद्दी कहानियाँ उन्हें मुफ्त में ही मिल जाती हैं। इस तरह पैसा भी बच जाता है और पत्र की खानापुरी भी हो जाती है। आज इस प्रकार के सम्पादकों और लेखकों पर कड़ा नियन्त्रण रक्खे बिना हमारी कहानियों का कल्याण नहीं होगा—यह निश्चित है।

आज भारत को जिस प्रकार की कहानियों की आवश्यकता है, वैसी कहानियाँ बिल्कुल नहीं मिल रही हैं। सर्वत्र सस्ती, सारहीन, कुरुचिपूर्ण और गन्दी कहानियों का प्रचार हो रहा है। हम अपनी नवजात स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार करें, इसका किसी को कुछ भी ध्यान नहीं है।

वैसे तो इस युग के प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों के अनेक कहानी-संग्रह निकल चुके हैं, लेकिन उनमें से मुख्य-मुख्य जिनके द्वारा वे यश और कीर्ति के भागी हुए हैं, इस प्रकार हैं—यशपाल की 'पिंजड़े की उड़ान', उषादेवी मित्रा की 'सांध्य-पूरवी', 'अज्ञेय' की 'कोठरी की बात', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'अंकुर', सत्यवती मलिक का 'दो फूल' आदि।

(६) उपयोगी साहित्य

इस युग में उपयोगी साहित्य की अधिक वृद्धि हुई। समालोचना शास्त्र की दृष्टि से गोपाललाल खन्ना ने 'काव्य-कला', इलाचन्द्र जोशी ने 'साहित्य-सर्जना', विनयमोहन ने 'साहित्य-कला' तथा डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने 'साहित्य-मीमांसा' नामक महत्व-

पूर्ण ग्रन्थ लिखे । लेखन-कला पर जो पुस्तकें लिखी गईं, उनमें सत्यजीवन वर्मा की 'लेखनी उठाने से पूर्व' तथा किशोरीदास वाजपेयी की 'लेखन-कला' नामक पुस्तकों के नाम लिये जा सकते हैं। जीवन-चरित्र लिखनेवालों में भवानीदयाल, राजाराम और घनश्यामदास बिड़ला के नाम लिये जाते हैं, जिन्होंने अपने-अपने आत्म-चरित लिखे हैं । राजनैतिक नेताओं को लेकर इस समय अनेक जीवन-चरित्र लिखे गये, जिनमें जगदीशनारायण तिवारी का 'सुभाषचन्द्र बोस', रामनरेश त्रिपाठी का 'तीस दिन मालवीय जी के साथ' तथा घनश्यामदास बिड़ला का 'श्री जमुनालाल जी' विशेष प्रसिद्ध हैं । विदेशीय नेताओं के जीवन-चरित्र जैसे 'स्टालिन', 'चीन का क्रांतिकारी राष्ट्र-निर्माता—सनयात-सेन', 'च्याङ्ग काई शेक', 'हिटलर की विचार-धारा' आदि भी इसी समय में लिखे गये हैं। इसके साथ-साथ हिंदू-युग, मुस्लिम-युग और अँग्रेजी-युग पर भी अनेक इतिहास लिखे गये। पाठशालाओं, कालेजों तथा अन्य परीक्षाओं के लिए जिन-जिन पुस्तकों की आवश्यकता का अनुभव होने लगा, धीरे-धीरे वैसी पुस्तकें भी बड़ी संख्या में तैयार की गईं । भारतीय व्यापार, भारतीय शासन, भारतीय ग्रामीण अर्थ-शास्त्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की दृष्टि से भी लेखकों ने अनेक पुस्तकें लिखीं । राजनीतिक रचनाओं की तरह हिन्दी-आन्दोलन की दृष्टि से बहुत-सी पुस्तकें लिखी गईं, जिनमें वेङ्कटेशन रायण तिवारी की 'हिन्दी बनाम उर्दू', चन्द्रबली पाण्डेय के 'कचहरी की भाषा और लिपि', 'भाषा का प्रश्न', 'बिहार की हिन्दुस्तानी', 'उर्दू का रहस्य' तथा 'मुगल बादशाहों की हिंदी' और रामनाथ शर्मा की 'ग्वालियर राज्य में हिन्दी का स्थान' आदि मुख्य हैं। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, एकांकी आदि के सुन्दर-सुन्दर संकलन भी इस समय में खूब हुए और वे पाठ्य-पुस्तकों के रूप में विभिन्न

कक्षाओं में रक्खे गये । इसी प्रकार अँग्रेज़ी, मराठी, बंगला से अनुवाद भी होते रहे । हिन्दी-विद्यार्थियों की सुविधा के लिए हिन्दी-साहित्य पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जो पाठकों के हिन्दी-साहित्य के ज्ञान के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए । इनमें से मुख्य-मुख्य ये हैं—नरोत्तमदास स्वामी का 'हिन्दी गद्य का विकास', रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', गुलाबराय का 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास', सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य की रूपरेखा', मिश्रबन्धु का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', कृष्णशंकर शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य की रूपरेखा', हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', अज्ञेय का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', श्रीकृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि-आदि ।

विश्वविद्यालयों में अन्वेषण-कार्य के लिए विशेष सुविधाएँ दी गईं, इसलिए यह युग खोज (Research) के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । इस समय के लेखकों की प्रवृत्ति प्रायः अन्वेषण करने की ओर ही अधिक दिखाई देती है । हर्ष का विषय है कि गद्य की यह शाखा और भी अधिक बढ़कर हमारे साहित्य की रक्षा करेगी । जो-जो विद्वान् विभिन्न विश्वविद्यालयों से डी० फ़िल्० अथवा पी-एच० डी० की उपाधि ले चुके हैं, उनमें से कुछ के नाम ये हैं—जनार्दन मिश्र, इन्द्रनाथ मदान, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, रामकुमार वर्मा, श्रीकृष्णलाल, बाबूराम सक्सेना, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, धीरेन्द्र वर्मा, रमाशंकर शुक्ल, बलदेवप्रसाद मिश्र, हरिहरनाथ टुक्कू, माताप्रसाद गुप्त, केसरी नारायण शुक्ल, दीनदयालु गुप्त, सोमनाथ गुप्त, भागीरथ मिश्र आदि-आदि ।

पत्र-पत्रिकाएँ—आज का युग प्रचार का युग है और इसके लिए

सर्वोत्तम साधन पत्र-पत्रिकाओं का है। इस युग में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई कि इन सब का उल्लेख करना हमारे वश की बात नहीं। छोटे-बड़े सभी पत्रों की संख्या ३६० के लगभग है। प्रायः प्रत्येक पत्र का अपना पृथक्-पृथक् उद्देश्य है। हमें अपने साहित्यिक पत्रों से मतलब है, उन पत्रों से जिन्होंने हिन्दी को जन-साधारण की भाषा बनाया तथा गद्य के विकास में योग दिया। हिन्दी के वे दैनिक पत्र जो भाषा की शुद्धता पर अन्य पत्रों की अपेक्षा अधिक ध्यान रखते हैं इस प्रकार हैं—बनारस का 'आज', कानपुर का 'प्रताप', दिल्ली का 'हिन्दुस्तान', लाहौर का 'मिलाप', प्रयाग का 'भारत', बम्बई का 'स्वाधीन भारत', कलकत्ते का 'विश्वमित्र' आदि। इस दृष्टि से 'वर्तमान', 'संसार', 'अर्जुन', 'नवयुग', 'स्वतंत्र-भारत', 'लोकमान्य', 'राष्ट्र-बन्धु' आदि भी उल्लेखनीय हैं। इस युग में सत्यदेव विद्यालंकार और बाबूराम विष्णुराव पराड़कर ही हमारे सामने सर्वश्रेष्ठ सम्पादकों के रूप में आते हैं। भाषा की दृष्टि से 'आज' सर्वश्रेष्ठ है। इनमें से बहुत से पत्र विगत युगों से भी प्रकाशित होते चले आ रहे हैं। कुछ दैनिक पत्रों ने साप्ताहिक अंक भी निकालना आरम्भ किया। इनमें 'प्रताप', 'विश्वमित्र', 'अर्जुन', 'भारत' और 'मिलाप' मुख्य हैं। शुद्ध साप्ताहिक पत्रों में प्रताप, सैनिक, स्वराज्य, कर्मवीर, जागरण, अभ्युदय आदि मुख्य हैं। सर्वश्रेष्ठ साप्ताहिक 'जागरण' और 'विश्वमित्र' हैं। मासिक पत्रों में 'सरस्वती', 'माधुरी', 'सुधा', 'चाँद', 'विशाल भारत', 'हँस', 'विश्वमित्र', 'गंगा', 'अरुण', 'भारती', 'वीणा', 'वाणी' आदि मुख्य-मुख्य साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं। बहुत-सी विगत युगों से निकल रही हैं। इनमें चित्रों के साथ-साथ समाज, धर्म, साहित्य, इतिहास, गवेषणा तथा मनोरंजन की सामग्री प्रचुर-मात्रा में देखने को मिलती है। बालोपयोगी

पत्रिकाओं में 'वानर', वालक', 'वाल सखा', 'खिलौना', 'वाल-विनोद', 'कमल', आदि प्रशंसनीय हैं। अन्य पत्रों में प्रयाग का 'विज्ञान', गोरखपुर का 'कल्याण', काशी का 'भूगोल' विविध विषयों की दृष्टि से उत्तम पत्र हैं। विगत युगों की तरह 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' और 'हिन्दुस्तानी पत्रिका' नामक त्रैमासिक पत्रिकाओं द्वारा साहित्यिक खोजों का काम ज़ोरों से चल रहा है। इन उपरोक्त पत्रों में से वहुतों ने अपने-अपने विशेषांक भी निकाले हैं, जिनमें वड़े-वड़े विद्वानों की साहित्यिक रचनाएँ हैं। शेष सभी पत्रों का सम्बन्ध देश के धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों से है।

चलचित्र और हिंदी

इस युग में चलचित्रों का विशेष प्रचार हुआ और उनकी लोकप्रियता इतनी अधिक वढ़ गई कि नाटकों का स्थान चल-चित्रों ने ले लिया। चलचित्रों के इस विशेष प्रचार और उनकी लोकप्रियता के कारण हिन्दी का देशव्यापी प्रसार होने लगा। चलचित्रों ने भाव-प्रकाशन के लिए नये-नये शब्द दिये और मनुष्य की मानसिक क्षुधा को शान्त किया। समय और परि-स्थितियों के परिवर्तन से जव मानव भावाभिव्यक्ति के साधन में विस्तार और पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ, तव नवीन शब्दों के निर्माण करने की इतनी आवश्यकता न रही जितनी पूर्वनिर्मित शब्दों के मिश्रण से नवीन शब्दों की उत्पत्ति की। प्रकृति और वैज्ञानिक आविष्कारों ने हिंदी-गद्य को अनेक नवीन-नवीन शब्द दिये थे, चलचित्रों ने इस कार्य को और आगे वढ़ाया। साथ ही उन्होंने हिंदी-लेखकों को बात करने का एक नवीन ढंग भी सिखाया। इस युग के नाटककारों में चलचित्रों का यह प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ये नवीन शब्द हमारे जीवन तथा साहित्य में इतने घुल-मिल गये कि आज उन्हें दूर करना कठिन

हो गया है। यही बात वार्तालाप के नये ढंग के विषय में कही जा सकती है। लेकिन इसका यह अर्थ लेना कि चलचित्रों के द्वारा हमारे साहित्यिक गद्य की कोई उन्नति हुई है, अपनी अल्प-बुद्धि का परिचय देना है। चलचित्रों का प्रभाव अधिकांश में व्यावहारिक और चलते हुए गद्य पर पड़ा है, साहित्यिक गद्य पर नहीं। आज नागरिकों की भाषा में जो वाचालता तथा भाव-प्रकाशन की भिन्न-भिन्न प्रणालियों के दर्शन होते हैं, यह चल-चित्रों की ही देन है। वार्तालाप के बीच-बीच में उद्धरण, मुहावरे-दार तथा वेगमयी हिंदुस्तानी का प्रयोग इस गद्य की विशेषता है। जो हास्य के सिद्धान्त चल-चित्र-निर्माताओं द्वारा प्रयुक्त होते हैं, वे ही सिद्धान्त इस गद्य के मूल में हैं। कालेज के लड़कों के वार्तालाप तथा नागरिकता के रंग में डूबे हुए मनुष्यों के संलापों में ये विशेषताएँ देखने को मिलेंगी। शहर के पानवाले की दूकान पर इसी गद्य के दर्शन होंगे और आजकल के शिक्षित युवकों की वातचीत में चल-चित्रों की इसी अनुकरण-प्रवृत्ति को हम पावेंगे। ये ही शिक्षित युवक जब अपनी रचनाओं में हास्य रस लाने का प्रयत्न करते हैं, तब उनमें चलचित्रों का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकने लगता है। कुछ चलते हुए शब्दों के प्रयोग, कुछ चुलबुले मुहावरों के प्रयोग और अंग्रेजी-उर्दू आदि भाषाओं के मिश्रण से बनी हुई यह भाषा चाहे हिंदुस्तानी प्रेमियों के लिए उपयुक्त हो, पर हिंदी-लेखकों के लिए किसी काम की नहीं है। हर्ष का विषय है कि इस अनुकरण-वृत्ति से हमारा वास्तविक हिंदी-गद्य कोसों दूर है। हिंदी के मनन करने योग्य साहित्यिक-गद्य पर, चाहे वह कोई अंग क्यों न हो, चलचित्रों का प्रभाव नहीं-सा पड़ा है।

इसके विपरीत हिंदी के साहित्यिक-गद्य का प्रभाव उत्तम चलचित्रों पर अवश्य पड़ा है और किसी-किसी चल-चित्र में तो

ऐसा जीवन आ गया है कि उन्हें बार-बार देखने को जी चाहता है। लेकिन ऐसे चित्र नहीं के बराबर हैं। इन निष्प्राण चल-चित्रों में जीवन डालने का श्रेय हमारे साहित्यकारों को ही है, चित्र-कम्पनियों के डायरेक्टरों अथवा कर्मचारियों को नहीं। चलचित्र-क्षेत्र में सर्वप्रथम नारायणप्रसाद 'बेताब' ने हिंदी को लेकर प्रवेश किया। उन्होंने 'रणजीत' के लिए चित्र लिखे। सन् १९३६ ई० में प्रेमचन्द भी उधर हवा खाने गये। उनके बाद सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेन्द्र, नीलकण्ठ तिवारी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, दीपक, नेपाली आदि भी इस ओर प्रवेश करने लगे। प्रेमचन्द जब बम्बई गये तो वहाँ अधिक दिनों तक नहीं ठहर सके। वहाँ रहकर उनके विचारों की हत्या होने लगी। उनकी 'मजदूर' कहानी पर अंग्रेज सरकार ने प्रतिबंध भी लगा दिया। प्रेमचन्द हैरान थे, विवश होकर उन्हें लौटना पड़ा। यदि कुछ दिनों तक डायरेक्टरों से निभ जाती तो आज के इन सस्ते और निम्न श्रेणी के चलचित्रों की कायापलट हो जाती, इसमें कोई संदेह नहीं। उनके बाद जमनास्वरूप काश्यप ने बाम्बे टाकीज की 'अछूत कन्या' में भाषा का रूप स्थिर किया। कथोपकथन के साथ गीतों का प्रवाह भी बदलना शुरू किया। इस भाषा-संस्कार से अहिंदी प्रान्तों में हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ने लगी। सुदर्शन ने न्यू थियेटर्स के 'धूप-छांह', प्रदीप ने 'बन्धन', 'नया संसार' और 'किस्मत' आदि चित्रों में हिन्दी के शुद्ध शब्दों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' एक सफल चित्र है, जो कला और साहित्य की दृष्टि से बहुत ही उत्तम बन पड़ा है। इधर कुछ वर्षों से शरद्, रवीन्द्र आदि के उपन्यासों को चित्र के रूप में ढाला गया है, जिनको देखने से चित्त प्रसन्न हो जाता है। लेकिन खेद है कि डाय-

रेक्टर महोदय जनता की भद्दी रुचि और पैसे के लोभ से इस प्रकार के चित्रों को कोई प्रोत्साहन नहीं दे रहे हैं। आज देश में चित्र-कम्पनियों की संख्या बहुत बढ़ गई है, चित्रों का पहाड़ खड़ा किया जा रहा है, लेकिन उनमें ऐसे चित्र, जिनके द्वारा हमें जीवन और मनोरंजन दोनों ही मिल जायँ, नगण्य हैं। इन्हें देखकर तो हमें यही कहना पड़ता है कि हिंदी के साहित्यिक-गद्य ने इनसे प्रभावित न होकर बहुत अच्छा किया है, अन्यथा सारा साहित्य बिगड़ जाता। प्राचीन भारतीयता का चित्रण करनेवाले कुछ ही चल-चित्र ऐसे हैं, जिनकी भाषा हिंदी कही जा सकती है, जिनका कथोपकथन तथा अभिनय कुछ संयत कहा जा सकता है। समस्त गुण एक ही चित्र में देखने को मिल जायँ, ऐसा चित्र मेरे देखने में आज दिन तक नहीं आया। प्रकाश-चित्र कृत 'भरत-मिलाप' और 'राम-राज्य', राजकमल कृत 'शकुन्तला' जैसे चित्रों में कथोपकथन अच्छे बन पड़े हैं। 'सिकन्दर' में तथा 'पुकार' में वार्तालाप सुन्दर और वीरोचित हुआ है। आजकल के कुछ नवीन चित्र कलुषित प्रेम से ऊपर उठते हुए अवश्य दृष्टिगत होते हैं। 'शहीद' में देशप्रेम और प्यार का कितना सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है। एक उदाहरण देखिये—

'कल जब देश आज़ाद होगा,...जब लोग खुशी में आकर तुम्हें कंधों पर उठायेंगे, तुम्हारे गले में फूलों का हार डालेंगे तो मैं भी फूलों का हार लिये एक कोने में खड़ी तुम्हारी बहार देख रही होऊँगी, तुम्हारा शानदार जलूस मेरे पास से निकलेगा तो मैं आगे बढ़कर तुम्हारे गले में फूलों का हार डाल दूँगी और कहूँगी—मेरे देवता, तुम आ गये और तुम्हें इतनी फुरसत भी न होगी कि आँख उठाकर देख सको।'

कल देश परतंत्र था, दासता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ

था। आज वह मुक्त है, अतः हमारा दायित्व बढ़ गया है। डायरेक्टरों, चित्र-कर्मचारियों को चाहिए कि वे पुरानी परिपाटी के चित्र न निकालकर ऐसे चित्र निकालें, जिनसे जनता को मनोरंजन भी प्राप्त हो और उनका जीवन-स्तर भी ऊपर उठे। वे पैसे के लोभ में न पड़ें, सस्ती और भद्दी रुचि को चित्रों में स्थान नहीं दें, अन्यथा उनके चित्र समाज में कभी आदर नहीं पा सकेंगे। आज स्वतंत्र भारत में आवश्यकता है ऐसे चित्रों की जिनमें सुन्दर अभिनय तो हो ही, पर साथ ही कला और सुरुचि का भी सुन्दर समन्वय हो। हिंदी के उत्कृष्ट लेखकों द्वारा ही यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता है। क्या चलचित्रों से सम्बंधित महानुभाव इस ओर ध्यान देंगे ?

रेडियो और हिंदी

रेडियो और हिंदी—भारतवर्ष के बड़े-बड़े शहरों—जैसे दिल्ली, लखनऊ, बम्बई, लाहौर, कराची, मद्रास आदि केन्द्रों से रेडियो पर हिंदी-गद्य की रचनाएँ प्रसारित की जाने लगीं। आज भी हिंदी के साहित्यकार इसमें भाग लेते रहते हैं। अंग्रेजों के रहते हुए रेडियो की भाषा-नीति उर्दू के पक्ष में थी। इस पक्षपात को देखकर हमारे लेखक क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने इसके लिए आंदोलन करना शुरू किया, लेकिन उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। रेडियो के द्वारा हमारे हिंदी-गद्य की कोई उन्नति नहीं हुई, बल्कि यों कहना चाहिए कि इन केन्द्रों के द्वारा मौलिक साहित्य-सृजन की धारा मन्द पड़ गई। हिंदी की आड़ लेकर इन रेडियो-केन्द्रों ने साहित्यिक भाषा को विशेष हानि पहुँचाई है। हाँ, इतना तो हुआ कि इनके द्वारा हिंदी को एक अंश तक सार्वजनिक बनाने का प्रयत्न अवश्य

किया गया, ऐसी हिंदी का जो उर्दू-फ़ारसी के शब्दों से दबी रहती है। हिंदी-भाषा के वास्तविक सेवियों ने इनमें इसीलिए कोई भाग नहीं लिया और रेडियो पर ऐसे लेखकों का बोल-बाला रहा जिन्हें हिंदी का कोई विशेष ज्ञान नहीं था। इसलिए एक प्रकार से हिंदी की दुर्गति ही हुई। आज युग बदल गया है, रेडियो पर हिंदी को महत्त्व दिया जाने लगा है। कहानी, भाषण आदि को सुनकर हमें खुशी होती है। रेडियो-रूपक, वाद-विवाद आदि तो हिंदी-गद्य के आधुनिकतम रूप हैं। इनके द्वारा साहित्य और जीवन दोनों की उन्नति की जा सकती है। लेकिन देखने में यह आता है कि रेडियो-स्टेशनों के कर्मचारी योग्यता को दृष्टि में न रखकर अपने-अपने खास व्यक्तियों को ही प्रोत्साहन देते जा रहे हैं। रेडियो से उत्कृष्ट कोटि के लेखकों की रचनाएँ प्रसारित की जानी चाहिएँ। वहाँ पक्षपातपूर्ण नीति से घोर अनिष्ट होने की आशंका है। सरकारी कर्मचारियों को चाहिए कि वे योग्य आदमियों की नियुक्तियाँ कर शुद्ध और स्वस्थ रचनाएँ प्रसारित करें। बहुधा रेडियो-कर्मचारी यह कहते हुए पाये गये हैं कि उनके द्वारा हिंदी की अच्छी सेवा हो रही है। यदि उनको सच्चे अर्थ में हमारे साहित्य की सेवा करनी है तो उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं का सदैव ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा हिंदी के कार्य-क्रम पर सरकार का रुपया खर्च करना वृथा है।

(८)

उपसंहार

'हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा' में हमने देखा कि मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के पूर्व हमारे यहाँ प्रान्तीय भाषाओं में ही गद्य लिखा जाता रहा, लेकिन दिल्ली राजधानी बन जाने के अनंतर राजकीय व्यवस्था की सुविधा के लिए इसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया गया। मुसलमानों में अरब, फ़ारस तथा तुर्किस्तान के लोग भी थे, इसलिए पारस्परिक आदान-प्रदान के फल-स्वरूप उर्दू की उत्पत्ति हुई। अनेक वर्षों तक हिन्दी-उर्दू में मल्ल-युद्ध होता रहा। दोनों भाषाएँ साथ-साथ चलती रहीं। हिन्दी-उर्दू की सामंजस्यपूर्ण रचनाओं का नाम कालान्तर में हिन्दुस्तानी पड़ गया। इस प्रकार हिन्दी-संसार में हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी का संघर्ष जटिल रूप धारण करता रहा। अँग्रेज़ी-राज्य की स्थापना हो जाने के पश्चात् हम प्रथम बार पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आये। हमने अपने गद्य-साहित्य की दुरवस्था और अन्य साहित्यों के गद्य की श्रेष्ठता का अनुभव किया। शनैः शनैः समय और परिस्थितियों से उत्पन्न नवीन भावों और विचारों ने हमारे गद्य में प्रवेश किया। हमारे लेखकों ने दुनिया के परिवर्तनों को देखा और समझा। कुछ लेखकों ने पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण किया, कुछ ने हमारी प्राचीन सभ्यता का, पर दोनों का सामंजस्य कोई न कर सका। भारतेन्दु-युग का गद्य इसलिए न तो पुराना है और न नवीन ही, वह बीच की कुछ और ही

चीज़ है। फिर स्वच्छंदवाद का युग आया। लेखक उस धारा के मोह को नहीं छोड़ सके। नवीन आवश्यकताओं के अनुसार आलोचना, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि का जन्म और विकास हुआ। प्रसाद-युग तक आते-आते हमारा गद्य उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गया। यही उसका 'स्वर्ण-युग' कहा जा सकता है। अँग्रेज़ी साम्राज्य के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता ने कालान्तर में दासता के संकटों और आपत्तियों का अनुभव किया। उसने इस दृष्टि से अपने आपको संसार में सबसे पीछे पाया। प्रथम महायुद्ध के बाद अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क से उन्हें स्वतन्त्रता का स्वाद मिला। फिर गाँधी, जवाहर, पटेल सरीखे रत्न मिल गये। काँग्रेस ने अहिंसा और सत्य के बल पर आंदोलन आरम्भ किया। उन्हें असफलताएँ भी मिलीं, यातनाएँ भी सहनी पड़ीं, लेकिन स्वतंत्रता की रट इनमें से किसी ने न छोड़ी। धीरे-धीरे काँग्रेस सारे भारत की जनप्रिय संस्था बन गई। अँग्रेजों के नीचे भारतीय जनता ने आर्थिक संकट भी खूब देखे। इन सब बातों का हमारे गद्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। प्रसाद-युग के बाद तो लेखकों ने इन राजनीतिक समस्याओं को बड़ी तेज़ी से साहित्य में लाना आरम्भ किया। साहित्यकारों और हिन्दी-प्रेमी-जनता ने हिन्दी के नारे लगाये। लेखक, कवि, मज़दूर, किसान, धनिक, आदि सभी लोग सामूहिक रूप से गाँधी बाबा के जुलूस में सम्मिलित हो गये। उन्हें वहाँ शांति मिली, सुख मिला। अँग्रेजों ने देखा कि अब वे अधिक दिनों के मेहमान नहीं, उन्हें भारत छोड़ना पड़ेगा। लेकिन ऐसे-वैसे धन-धान्य से पूर्ण भारत को वे कब छोड़नेवाले थे? उन्होंने अपने अणुबम को सत्य और अहिंसा से चुपचाप अपने घर में तोला और जो कुछ निश्चय किया, उसके संबंध में किसी से कुछ नहीं कहा। अन्त में भारत

में रहने का कोई उपाय न देखकर उन्होंने एक दिन भारत छोड़ दिया, अथवा यों कहिए कि उन्हें भारत छोड़ना पड़ा। सौभाग्य से १५ अगस्त, सन् १६४७ ई० को भारत स्वतंत्र हुआ। यह दिन हमारे इतिहास में सबसे बड़ा गौरव का दिन है। लेकिन दुर्भाग्य से भारतवर्ष के दो टुकड़े हो गये। खून की नदियाँ बहीं। किसी तरह हिन्दू-मुसलमान अपनी-अपनी जगह पर पहुँच गये। भारत में फिर अन्य समस्याओं के साथ ही साथ राष्ट्र-भाषा का प्रश्न भी मुँह खोलकर सामने आया। सबने दौड़-दौड़ कर दिल्ली की शरण ली। अन्त में, १५ सितम्बर सन् १६४६ ई० को राष्ट्रभाषा का पेचीदा प्रश्न भी सुलझ गया। सर्व श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, वियोगी हरि, सेठ गोविंददास, राहुल सांकृत्यायन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी आदि विद्वानों के अथक परिश्रम से आज 'हिन्दी' राष्ट्रभाषा बन गई है, यद्यपि अभी प्रारम्भिक समय में इसके आगे दो-तीन रुकावटें अवश्य रख दी गई हैं।

हिंदी-गद्य के विकास का उपसंहार नवीन हिंदी-गद्य की प्रस्तावना है। इसे पढ़कर हिंदी के विद्यार्थी को आश्चर्य अवश्य होगा, लेकिन यथार्थ में बात ऐसी ही है। साहित्य समाज का दर्पण है। तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। ऊपर जिन-जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है, उनका साहित्य से गहरा सम्बन्ध है। आज भारत स्वतंत्र हो गया है, तो भला साहित्य पर इसका प्रभाव पड़े बिना कैसे रह सकता है? इन स्वतंत्रता से, जिन लेखकों ने उपयोगितावाद के सिद्धान्त को लेकर, दूसरे शब्दों में, भारत की स्वतंत्रता को लेकर जो रचनाएँ लिखी थीं, आज उन साहित्यकारों का बहुत-सा भाग अंधकार में विलीन हो गया है। उनकी उपयोगिता जाती रही है.

क्योंकि उनका उद्देश्य भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम में सहा
होना मात्र था। जिन लेखकों में कला की चिरन्तनता थी, उन
गद्य तो सर्वकालीन हैं। प्रसाद, प्रेमचन्द आदि ऐसे ही लेर
हैं। लेकिन जिन्होंने कला की उपेक्षा की उनका साहित्य मिट
जा रहा है। स्वतंत्रता के बाद इधर गद्य की धारा शिथिल
गई है। केवल कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में अन्वेषण-क
की ही प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। शेष लेखक शांत है
स्वतंत्रता के पश्चात् क्या लिखना चाहिए, शायद इसका विच
किया जा रहा है। हमारे बहुत से प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हि
क्षेत्र से निकलकर राजनीतिक-क्षेत्र में भाग लेने लग गये हैं। उ
साहित्य में कुछ नहीं मिला। राजनीति से कुछ मिल जाय
कम से कम मुझे तो संदेह है। कहने का अभिप्राय यह है कि
स्वतंत्रता का, जीवन की तरह साहित्य पर भी यथेष्ट प्रभाव प
और पड़ता जा रहा है। आज विगत युगों की समस्त धाराएँ
स्वतन्त्रतारूपी सागर में मिल गई हैं। आज से हमें आगे
लिए नये सिरे से साहित्य-सृजन करना पड़ेगा। इसीलिए तो क
गया है कि हिन्दी-गद्य के विकास का उपसंहार नवीन हिंदी-
की प्रस्तावना है। आइए, आज हम महिमामयी भारतमाता
भारती-मंदिर में राष्ट्र के पवित्र सांस्कृतिक सिंहासन पर रा
भाषा हिंदी को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित कर उसकी तन, मन, ध
जन से रक्षा करें और उत्कृष्ट कोटि की मौलिक गद्य-रचना
एक नया अध्याय लिखें, जिसकी भूमिका इस पुस्तक का
अंश हो।
